अनन्य

'हिंदी की नयी उड़ान'

मासिक पत्रिका

अक्टूबर -2022

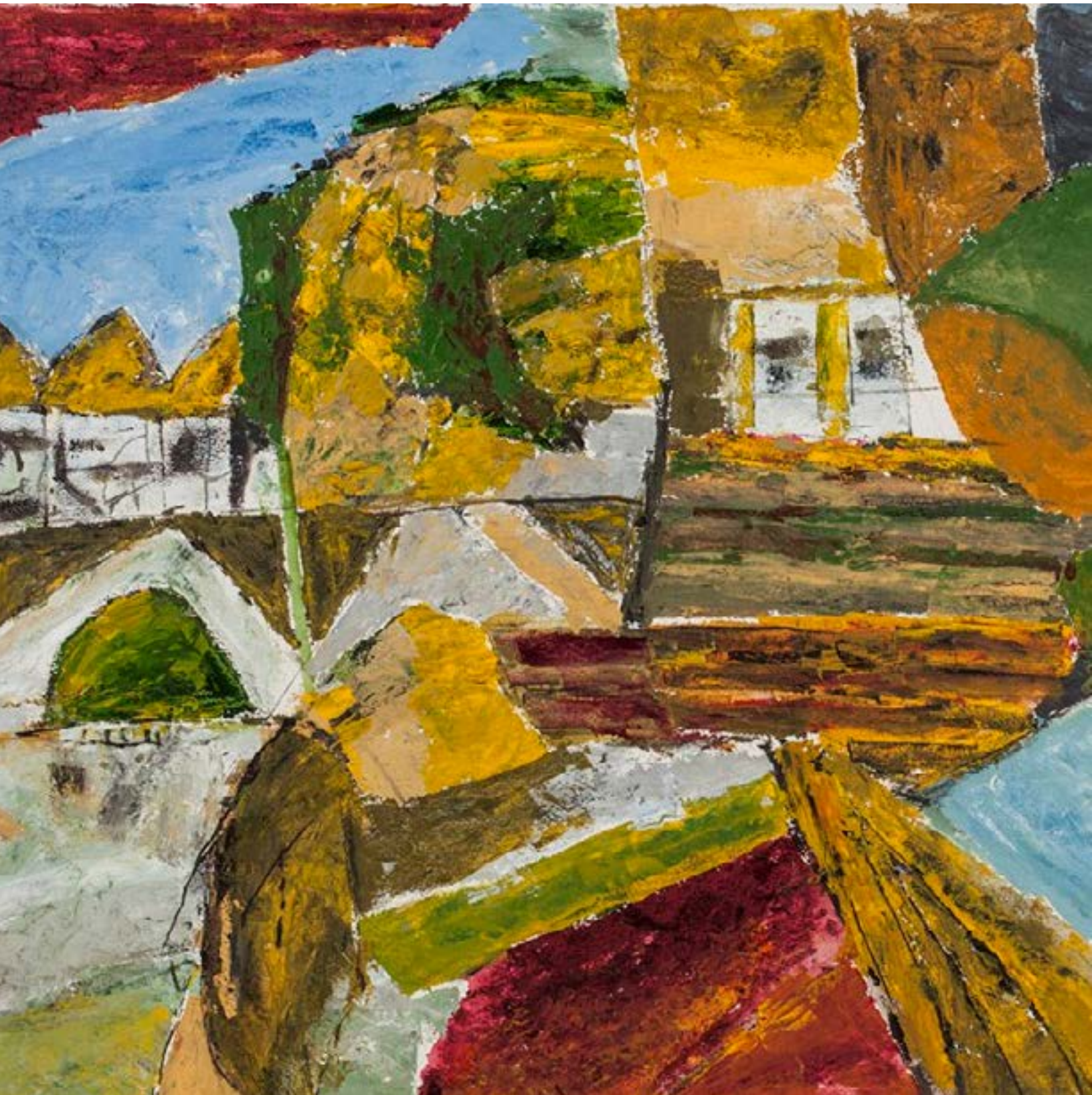

अनन्य

‘हिंदी की नयी उड़ान’

प्रबंध संपादक
अनूप भार्गव

संपादक
डॉ. जगदीश व्योम

कला संपादक
विजेंद्र एस. विज

भारतीय कौंसलावास, न्यूयॉर्क की हिंदी पत्रिका

अनन्य

मासिक पत्रिका, अक्टूबर-2022
भारतीय कौंसलावास, न्यूयॉर्क की हिंदी पत्रिका

प्रबंध संपादक
अनूप भार्गव

संपादक
डॉ० जगदीश व्योम

कला संपादक
विजेन्द्र एस. विज

संपादन सलाहकार
डॉ० हरीश नवल

तकनीकी सलाहकार
बालेन्दु शर्मा दाधीच

संपादन सहयोग
स्वरांगी साने
आभा खरे

व्यवस्था
अमित खरे
गीता घिलोरिया

रेखांकन
मुकेश साह

आवरण चित्र : चित्रकार - रामकुमार
Untitled
22”x30 Acrylic on Canvas
Ramkumar

आइकॉन पर क्लिक करने से
आप ऑडिओ रिकॉर्डिंग सुन सकते हैं

आइकॉन पर क्लिक करने से
आप विडियो रिकॉर्डिंग सुन सकते हैं

अनुक्रम

पृष्ठ संख्या

संपादकीय
डॉ० जगदीश व्योम 07

गीत/नवगीत : विनय मिश्र 08
एक मोर का पंख / जुलाहे सा मन
ध्यान रहे

कविता : दुष्यंत कुमार 09
गाँधी जी के जन्म दिन पर : **प्रस्तुति अनूप भार्गव**

लघुकथा : ज़रूरत / **महेश शर्मा** 10

ग़ज़ल : पाँच ग़ज़लें / **हरेराम समीप** 11

कहानी : बलमवा तुम क्या जानो प्रीत / **प्रत्यक्षा सिन्हा** 13

गीत/नवगीत : जगदीश पंकज 17
कहाँ कहाँ पर जाकर खोजें
साँस की नसैनी पर

व्यंग्य : छुट्टियों की छुट्टी / **पवन कुमार जैन** 18

लघुकथा : काँटा / **राम करन** 21

कविता : ग्रामीण औरतें / **अनीता सैनी 'दीप्ति'** 22

लोक कला : 'राई' से पहाड़ तक / **दीपक गुप्ता** 23

हाइकु : डा. अनिता कपूर 28

कहानी : कबाड़ी वाला की मौत / **अशोक मिश्र** 29

ग़ज़ल : पाँच ग़ज़लें / **डॉ० भावना** 38

कला : एकांत घर का रहवासी-रामकुमार / **मनोज मोहन** 40

चित्र और चित्रकार : मुकेश साह पृष्ठ भाग / 45

दो शब्द...

'अनन्य' का अक्टूबर–2022 अंक आपको सौंपते हुए प्रसन्नता हो रही है। अक्टूबर का महीना समूची मानवता को अहिंसा का व्यावहारिक मंत्र देने वाले गाँधी के नाम से भी दुनियाभर में जाना जाता है। दुनिया के तमाम देशों के बीच बढ़ते जा रहे संप्रभुता के अंधाधुंध प्रदर्शन काल में अहिंसा की प्रासंगिकता कम नहीं हुई है, बल्कि थोड़ी और प्रासंगिक ही हुई है। और यह भी सच है कि हमें देर–सबेर लौट–फिरकर अहिंसा की राह पर वापस आना ही होगा। गाँधी एक व्यक्ति नहीं एक विचारधारा है, एक ऐसी विचारधारा जो कभी मरेगी नहीं, कभी अप्रासंगिक नहीं होगी। दुष्यंत कुमार के शब्दों में– ''तुम मुझको दोषी ठहराओ/ मैंने तुम्हारे सुनसान का गला घोंटा है/ पर मैं गाऊँगा / चाहे इस प्रार्थना सभा में / तुम सब मुझ पर गोलियाँ चलाओ/ मैं मर जाऊँगा/ लेकिन मैं कल फिर जनम लूँगा/ कल फिर आऊँगा...''

भारत से बाहर गाँधी के प्रासंगिक होने और प्रतीक रूप में उनकी उपस्थिति की आहट इसी बात से लगा सकते हैं जब किसी देश के महत्वपूर्ण स्थल पर बड़े सम्मान के साथ वे उपस्थित दिखाई दे जाते हैं। विगत दिनों मेरा व्यक्तिगत अनुभव भी कुछ ऐसा ही रहा... अमेरिका के सेन्फ्रांसिस्को के बेएरिया, फेयरी बिल्डिंग जो कि सेन्फ्रांसिस्को का हृदय–स्थल है, वहाँ किसी देश के बड़े से बड़े नेता की प्रतिमा नहीं दिखाई दी लेकिन अपनी लाठी के साथ गाँधी जी वहाँ भी बडे सम्मान के साथ उपस्थित दिखे, उनकी प्रतिमा को अमेरिका जैसे बड़े देश के इतने भव्य और ऐतिहासिक स्थल पर देखकर अनिवर्चनीय प्रसन्नता की अनुभूति हुई। गाँधी की वैश्विक स्तर पर उपस्थिति और भारत से बाहर के देशों का उनके प्रति सम्मान भाव देखकर अहिंसा के प्रति विश्वास थोड़ा और बढ़ जाता है। अनन्य की पहुँच अब ग्यारह देशों तक हो गयी है, धीरे–धीरे यह संख्या अन्य देशों तक बढ़ेगी। हिंदी भाषा और भारतीय संस्कृति का संवाहक यह अनन्य–विहग सुदूर देशों में रह रहे प्रवासी भारतीयों के मध्य भाषाई और सांस्कृतिक सेतु का कार्य कर सकेगा यही हमारी अपेक्षाएँ हैं और यही प्रयास भी।

जिन रचनाकारों की रचनाएँ अनन्य को प्रकाशनार्थ मिल रहीं हैं, उन सभी का आभार। अनन्य के लिए प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में हमें जिन-जिनका सहयोग मिल रहा है, उन सबका आभार। रचनाओं पर अपनी प्रतिक्रिया देकर भी आप हमारा सहयोग कर सकते हैं।

अनन्य का यह अंक आपको कैसा लगा... आपकी प्रतिक्रियाओं की प्रतीक्षा रहेगी।

-जगदीश व्योम
सम्पादक- अनन्य

डा॰ विनय मिश्र

देवरिया (उ.प्र.) में जन्में डा. विनय मिश्र चर्चित नवगीतकार हैं, नवगीत एवं अन्य विधाओं में विनय मिश्र की 6 पुस्तकें प्रकाशित हैं. अनेक संस्थाओं से सम्मानित व पुरस्कृत डा. विनय मिश्र अलवर (राज.) के एक महाविद्यालय में हिंदी विभाग में एसोसिएट प्रोफेसर के पद पर कार्यरत हैं.

ईमेल - mishravinay18@gmail.com

विनय मिश्र के तीन नवगीत

1.

एक मोर का पंख

एक मोर का पंख रखा है
बरसों पढ़ी किताब में

मार कोहनी संकेतों की
अक्षर हैं बौराये
सहमे हुए अर्थ के पंछी
मगर कहाँ उड़ पाये
सदियों चलकर
सच की दुनिया
टिकी हुई है ख़्वाब में
एक मोर का पंख...

जाने सच है या केवल
यह मौसम की है लेखी
मीठे सम्बंधों में अक्सर
तनातनी है देखी
रिश्ते कायम
वैसे ही हैं
काँटे और गुलाब में
एक मोर का पंख...

आँखों में दिन भर की बातें
लिए टहलती शामें
बाहर चुप्पी लेकिन भीतर
चाहों के हंगामे
छवियाँ जगतीं रहीं
रात भर
यादों के मेहराब में
एक मोर का पंख...

2.

जुलाहे-सा मन

किसी नदी का बहना
मुझमें बचा रहा

जाने मन की अमराई में
कैसी हवा चली
मैं उछाह की उँगली पकड़े
भटका गली-गली
किसी धूप के टुकड़े में
दिल लगा रहा
किसी नदी का...
रंग उभरकर आये अक्सर
बीती बातों के
बुनता रहा जुलाहे-सा मन
धागे यादों के
मेला निर्जन में
वसन्त का लगा रहा
किसी नदी का...

हुईं उमंगें भेड़ बकरियाँ
जब भी शाम ढली
स्मृतियों की अनगिन छवियाँ
आँखों में उतरीं
सूरज हुआ गड़रिया
बंसी बजा रहा
किसी नदी का...

3.

ध्यान रहे

जो आँखों के पानी में है ध्यान रहे
वो मेरी निगरानी में है ध्यान रहे

अंधकार में
डूबी-डूबी रातों की
देखा देखी
नहीं चलेगी बातों की
इक मुश्किल
आसानी में है ध्यान रहे
जो आँखों के पानी में है...

बाज़ारों में
आज गिरावट भारी है
जीवन मूल्यों का
मिटना भी जारी है
हर रिश्ता
हैरानी में है ध्यान रहे
जो आँखों के पानी में है...

आई घर में
छंद मुक्त हो भौतिकता
कविताओं की
नष्ट हो गई मौलिकता
जो तुलसी की
बानी में है ध्यान रहे
जो आँखों के पानी में है...
...

दुष्यंत कुमार

प्रस्तुति - अनूप भार्गव

गाँधी जी के जन्म दिन पर

मैं फिर जनम लूँगा
फिर मैं
इसी जगह आऊँगा
उचटती निगाहों की भीड़ में
अभावों के बीच
लोगों की क्षत-विक्षत पीठ सहलाऊँगा

लँगड़ाकर चलते हुए पाँवों को
कंधा दूँगा
गिरी हुई पद-मर्दित पराजित विवशता को
बाँहों में उठाऊँगा
मैं फिर जनम लूँगा
फिर मैं
इसी जगह आऊँगा...

इस समूह में
इन अनगिनत अनचीन्ही आवाज़ों में
कैसा दर्द है
कोई नहीं सुनता !
पर इन आवाज़ों को
और इन कराहों को
दुनिया सुने, मैं ये चाहूँगा !
मैं फिर जनम लूँगा
फिर मैं
इसी जगह आऊँगा ...

मेरी तो आदत है

रोशनी जहाँ भी हो
उसे खोज लाऊँगा
कातरता, चुप्पी या चीख़ें,
या हारे हुओं की खीज
जहाँ भी मिलेगी
उन्हें प्यार के सितार पर बजाऊँगा

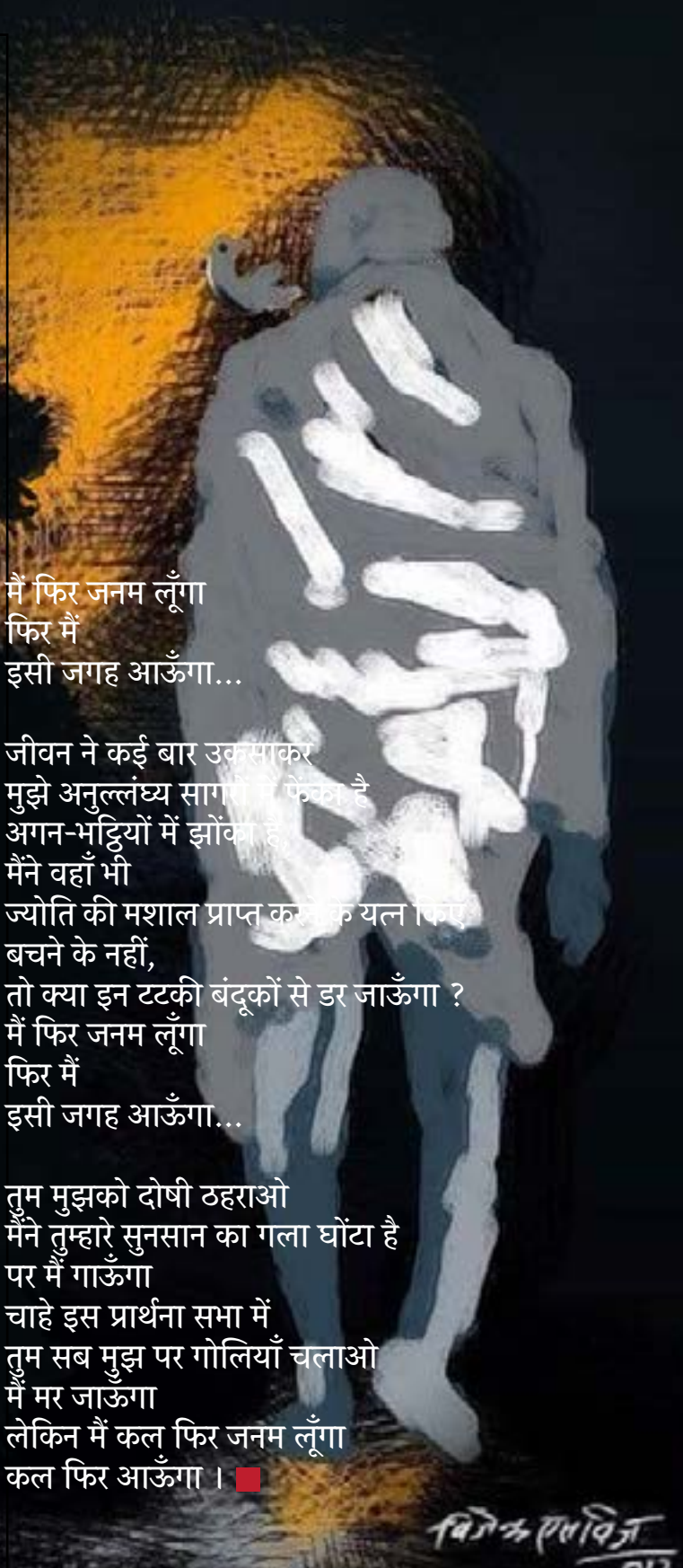

मैं फिर जनम लूँगा
फिर मैं
इसी जगह आऊँगा...

जीवन ने कई बार उकसाकर
मुझे अनुल्लंघ्य सागरों में फेंका है
अगन-भट्ठियों में झोंका है
मैंने वहाँ भी
ज्योति की मशाल प्राप्त करने के यत्न किए
बचने के नहीं,
तो क्या इन टटकी बंदूकों से डर जाऊँगा ?
मैं फिर जनम लूँगा
फिर मैं
इसी जगह आऊँगा...

तुम मुझको दोषी ठहराओ
मैंने तुम्हारे सुनसान का गला घोंटा है
पर मैं गाऊँगा
चाहे इस प्रार्थना सभा में
तुम सब मुझ पर गोलियाँ चलाओ
मैं मर जाऊँगा
लेकिन मैं कल फिर जनम लूँगा
कल फिर आऊँगा । ■

इस गीत को सुनने के
लिए यहाँ क्लिक करें »

महेश शर्मा

राजस्थान (भारत) मे जन्में महेश शर्मा जी थिएटर, वॉइस ओवर एवं स्वतंत्र लेखन करते हैं। लघुकथा, कहानी और व्यंग्य विधा में लेखन, 6 लघुकथाएं पुरस्कृत। विश्व हिंदी सचिवालय मॉरीशस द्वारा लगातार दो बार कहानी व व्यंग्य लेखन में पुरस्कार प्राप्त।

ईमेल - maheshtheatre@gmail.com

ज़रूरत

-महेश शर्मा

दीवाली की सफाई धूम धाम से चल रही थी। बेटा-बहू, पोता-पोती, सब पूरे मनोयोग से लगे हुए थे।

वे सुबह से ही छत पर चले आये थे। सफाई में एक पुराना फोटो एल्बम हाथ लग गया था, सो कुनकुनी धूप में बैठे, पुरानी यादों को ताज़ा कर रहे थे।

ज़्यादातर तस्वीरें उनकी जवानी के दिनों की थीं, जिसमें वे अपनी दिवंगत पत्नी के साथ थे। तकरीबन हर तस्वीर में पत्नी किसी बुत की तरह थी, तो वे मुस्कुराते हुए, बल्कि ठहाका लगाते हुए कैमरा फेस कर रहे थे। उन्हें सदा से ही खासा शौक था तस्वीरें खिंचवाने का। वे पत्नी को अक्सर डपटते- "फ़ोटो खिंचवाते समय मुस्कुराया करो। हमेशा सन्न सी खड़ी रह जाती हो- भौंचक्की सी !!!"

–चाय की तलब के चलते, जब वे नीचे उतर कर आये तो देखा, घर का सारा पुराना सामान इकट्ठा करके अहाते में करीने से जमा कर दिया गया है, और पोता अपने फ़ोन कैमरा से उसकी तस्वीरें ले रहा है।

– यह उनके लिए नई बात थी।

पता चला कि, आजकल पुराने सामान को ऑनलाइन बेचने का चलन है।

वे बेहद दिलचस्पी से इस फोटोसेशन को देख रहे थे कि, एकाएक उनके शरीर में एक सिहरन सी उठी- और ठीक उसी वक़्त, पोते ने शरारत से मुस्कुराते हुए, कैमरा उनकी तरफ करके क्लिक कर दिया – "ग्रैंडपा, स्माइल!!!"

– कैमरा की फ्लेश तेज़ी से उनकी तरफ लपकी, ... और वे पहली बार तस्वीर खिंचवाते हुए सन्न से खड़े रह गए।

■

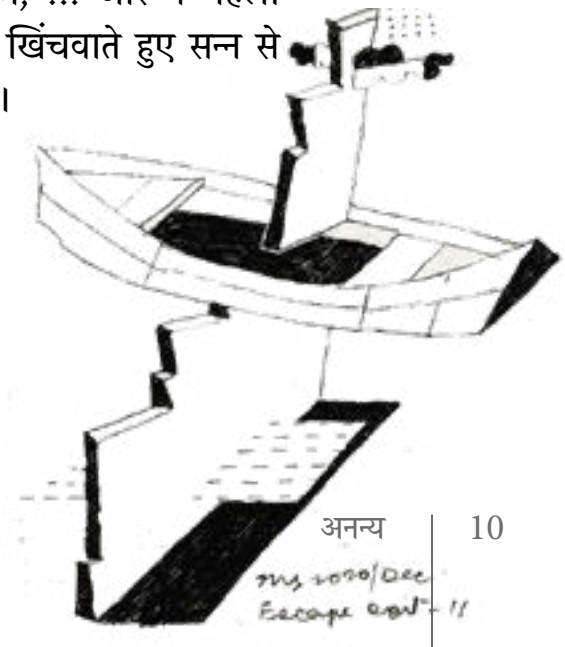

हरेराम समीप

ग्राम मेख, जिला- नरसिंहपुर (मध्य प्रदेश) में जन्में ओर वर्तमान में फरीदाबाद (हरियाणा) निवासी हरेराम समीप सुप्रसिद्ध ग़ज़लकार हैं, ग़ज़ल सहित अन्य विधाओं में समीप जी की 25 पुस्तकें प्रकाशित हैं, हरियाणा साहित्य अकादमी द्वारा 'महाकवि सूरदास सम्मान-2021 (5 लाख रुपए) सहित अनेक संस्थाओं द्वारा सम्मानित एवं पुरस्कृत.

ईमेल - hareramsameep1951@gmail.com

पाँच ग़ज़लें

-हरेराम समीप

1.

धरती नई तलाश नया आसमां तलाश
अब वक्त आ गया है तू अपना जहां तलाश

बाहर के शोरोगुल में न भीतर के मौन में
ख़ुद की तलाश है तो कहीं दरमियां तलाश

बहरूपियों की, और मुखौटों की भीड़ में
तू ही बता कि तुझको मैं करता कहाँ तलाश

आपस में बातचीत की भाषा न जब बचे
अच्छा है फिर कहीं से कोई हमज़ुबाँ तलाश

है गुफ़्तगू की चाह तो आ, मुझसे बात कर
शेखी बघारने के लिए बेज़ुबाँ तलाश

सदियों से जिसे मानती है दुनिया बेमिसाल
हिन्दोस्तां में अपना वो हिन्दोस्तां तलाश

2.

फिर नहीं लौटी शहर से जो गई पगडंडियाँ
कौन जाने अब कहाँ वो खो गई पगडंडियाँ

स्वार्थ की बारिश हुई रिश्तों के गाँवों में बहुत
ओढ़कर बर्फ़ीली चादर सो गई पगडंडियाँ

शहर की सड़कों पे हरपल हादिसों की भीड़ देख
खिलखिलाई जोर से फिर रो गईं पगडंडियाँ

देख तो लो तुम ये चेहरे वक्त की संतान के
जिनके माथे की शिकन अब हो गई पगडंडियाँ

शामियानेसे सजे हैं आजकल अपने नगर
गाँव खूँटी और रस्सी हो गई पगडंडियाँ

उत्सवों के देश में पसरा है मातम, आर्तनाद
कहकहों से गूँजती अब खो गईं पगडंडियाँ

इक नई मुश्किल हमारे सामने ये है 'समीप'
आँधियों के दौर में सब खो गई पगडंडियाँ

3.

आपस में अगर अपनी मुहब्बत बनी रहे
इस खौफ़नाक दौर में हिम्मत बनी रहे

साज़िश के मौसमों में धमाकों के शहर में
अम्नोअमाँ की कोई तो सूरत बनी रहे

जो चाहते हैं मुझमें और तुझमें अदावत
वे चाहते हैं उनकी हुकूमत बनी रहे

क्या हर्ज़ है सड़क को घुमाकर निकाल लें
गर लोग चाहते हैं इमारत बनी रहे

जब शाम को लौटें तो कोई मुंतज़िर तो हो
इतनी तो तेरी घर में ज़रूरत बनी रहे

फांसी पे लटकते हुए ये कह गये शहीद
जैसे भी हो ये प्यार की दौलत बनी रहे

मेरा ज़मीर मुझसे उलझता है बार-बार
हर वक्त इंकलाब की सूरत बनी रहे

4.

अपने गम का बयान करना है
दर्द को आसमान करना है

फैसला साहबान करना है
जंग के दरम्यान करना है

ख़्वाब का और इस हकीकत का
ज़िन्दगी से मिलान करना है

दरअसल शायरी का मकसद ही
वक्त को सावधान करना है

ये इनामात किसलिए आखिर
क्या मुझे बेजुबान करना है

सर कलम होता है तो होने दे
मैंने सच का बयान करना है

5.

वेदना को शब्द के परिधान पहनाने तो दो
ज़िंदगी को गीत में ढल कर जरा आने तो दो

वक्त की ठण्डक से शायद जम गई मन की नदी
देखना बदलेंगे मंज़र धूप गर्माने तो दो

देख लेंगे हम अँधेरों की भी ताकत कल सुबह
हौसले के सूर्य को सागर से आ जाने तो दो

खोज ही लेंगे नया आकाश ये नन्हे परिंद
इन परिंदों को ज़रा तुम पंख फैलाने तो दो

मुद्दतों से सोच अपनी बंद कमरों में है क़ैद
खिड़कियाँ खोलो यहाँ ताज़ा हवा आने तो दो

कब तलक डरते रहेंगे ये न हो फिर वो न हो
जो भी होना है उसे इक बार हो जाने तो दो

■

प्रत्यक्षा

गया (बिहार) में जन्मीं प्रत्यक्षा चर्चित लेखिका हैं, वर्तमान में गुड़गाँव में निवास कर रहीं प्रत्यक्षा पावरग्रिड में मुख्य महाप्रबंधक वित्त की हैसियत से कार्यरत हैं, अंग्रेजी और हिन्दी में मिलाकर अब तक प्रत्यक्षा की 11 किताबें प्रकाशित हैं, हंस कथा सम्मान सहित अनेक संस्थाओं से सम्मानित/पुरस्कृत हैं।

ईमेल - pratyaksha@gmail.com

बलमवा तुम क्या जानो प्रीत

इस कहानी को सुनने के लिए यहाँ क्लिक करें »

-प्रत्यक्षा

"'इतनी नौटंकी छोकरी है लेकिन गला... आहा जैसे रस बरसता है। सब बदमाशी, हरामखोरी के बीच अचानक ऐसे सच्चे सुर की धार बहती है कि खुद उनका जी जुड़ जाता है। कभी कभी ही ऐसी रहमत बरसती है खुदा की। कच्ची आवाज़ में गमक और मुरकियों की ऐसी बीहड़ पगडंडियाँ।'..."

''आ-उस्ताद जी अब कल...

मुन्नी गिड़गिड़ाती है, ललचाती आँखों से छत के कोनों से उड़ते पतंगों के रंग बिरंगे आज़ाद संसार की तरफ ताकती है।

-मेरा गला अब दुखता है...

उस्ताद मिर्ज़ा अपने माथे का गूमड़ सहलाते सोचते हैं, उफ्फ ये लड़की। खाला, चौकी पर टिकी पानदान संभालती गुस्से से खखारती हैं। ऐसे चलन से सीखेगी छोकरी संगीत। दिन-रात एक करो तब जाकर सुर सधता है। फिर सोचती हैं, लड़की को हाथ पाँव बाँध कर रखना होगा तब जाकर साधना होगी।

-उस्ताद जी आप जारी रखिये।

उस्ताद देखते हैं, मन मार कर आलाप लेती मुनिया को। इतनी नौटंकी छोकरी है लेकिन गला... आहा जैसे रस बरसता है। सब बदमाशी, हरामखोरी के बीच अचानक ऐसे सच्चे सुर की धार बहती है कि खुद उनका जी जुड़ जाता है। कभी कभी ही ऐसी रहमत बरसती है खुदा की। कच्ची आवाज़ में गमक और मुरकियों की ऐसी बीहड़ पगडंडियाँ। इस दस साल की छोकरी के भीतर अचानक तीस साल की नायिका के मनौव्वल का संसार ! गज़ब।

...

बूढ़ा सब तस्वीरें एक एक करके साफ करता है। कैसे जतन से कैसे प्यार से। फिर एक तस्वीर पर रुक जाता है। चाँद सा गोल चेहरा, आधे माथे पर झूमर, सर पर ओढ़नी की झलक और होंठों पर मुस्कान जैसा कुछ, उदास और उसी वक्त एक दम खाली। चेहरे पर कोई देखे तो भाव का झमकता झूमता संसार। कोई और देखे तो खाली निचाट सीपिया रंगो की पुरानी तस्वीर मात्र। तस्वीर रख कर दो कदम पीछे हटता है। तस्वीर की आँख उसका पीछा करती है।

बात सिर्फ इतनी सी थी, सिर्फ इतनी ही तो... कि बस जी नहीं लगता था कहीं भी, किसी से भी। अंदर सन्नाटा गोल-गोल घूमर बनाता प्राण उमेठता और फीकी बेरौनक मुस्कान के कोने पुराने स्वेटर से उधड़ते बिखर जाते। संगीत शब्द रंग बन्द तहखाने में सात तालों के भीतर लुकाई बात थी, दूसरे समय की। तब भी यही समय था और अब भी एक आह दबी दबी उठती, बेचैन कराहटों की उँगली थामे, दीवार टटोलते धीरे से चुक जाती। अपने होने से शर्मसार लिथड़ती खामोशी कोने अतरों पर घिसटती खत्म होती। गली से घूमती विचरती आवाज़ दरवाज़े से झाँकती लौट जाती। गली के मुहाने पर जो दुकान थी उसके अँधेरे कोनों में ग्रामोफोन बजता, ठेठ ख़राशदार आवाज़ में किसी तकलीफ और मनुहार की दिल तोड़ देने वाली गमक। भीतर अजायब घर था। पुरानी घड़ियाँ, रेत घड़ी, क्म्पास, टूटे दरके चीनी मिट्टी के नक्काशीदार प्लेट और सूप बोल्स, चाँदी की तश्तरियाँ, पीले पड़े फ्रेम में जाने किस किस की तस्वीरें, क्रोशिया से बने झागदार उम्र से पीले पड़े चादर और स्टोल।

बूढ़ा अपनी सुनहरी कमानी वाले फ्रेमलेस चश्मे से गली के सन्नाटे को ताकता, ग्रामोफोन सुनता। बार बार एक ही गीत। कोई ग्राहक भूले भटके आता तो अँधेरे सीलेपन से घबड़ा कर धूप भरी गली में तुरत लौट जाता। बूढ़ा चुप देखता, पतलून की जेब से घड़ी निकाल कर समय देखता। अगर बारह बजे होते तो एक कर्कश घंटी बजती। कहीं मकान के पेट से ये आवाज़ अँधेरे को चीरती तीखेपन से पहुँचती। बूढ़ा उठकर पिछवाड़े के दरवाज़े तक जाता। फिर सूप भरा बोल लेकर वापस अपनी बदरंग पर आरामदेह कुर्सी पर बैठ जाता। सुड़क-सुड़क कर पानीदार सूप पीता। ऐसे समय किसी का भी हस्तक्षेप उसे रास न आता। भले ही कोई सचमुच का ग्राहक किसी चाँदी के गुच्छे पर जान न्योछवर करता दाम पूछता।

दुकान के पिछवाड़े वाले हिस्से का दरवाज़ा बगल की गली में खुलता था। औरत खुले दरवाज़े और गली के बीच टँगी मोढ़े पर बैठी रहती। औरत कामकाजी थी इसलिये हर वक्त काम करती दिखती। जब बैठी होती तब भी उसका बाकी शरीर विश्राम की अवस्था में रहता पर उसके हाथ और उसका मुँह काम करते रहते। उसके गले से गीत थोड़ा बेसुरा मोटे सुर में फुसफुसाते स्वर में निकलता जैसे गाने की बजाय कुछ याद करते रहने की कोशिश हो। औरत मफलर बुनती थी। कभी-कभी शाल भी बुन लेती थी। गर्मियों में क्रोशिया के लेस बुनती। बूढ़ा निर्विकार भाव से दुकान में बैठता।

...

सुनहरे नक्काशीदार फ्रेम में जड़ी तस्वीर औरत की थी जिसके चेहरे पर अथाह मासूमियत और अथाह दर्द था। मज़े की बात कि तस्वीर में उसके कंधे हँस रहे दीखते थे जबकि चेहरा चुप था। ऐसा होना किसी सुराख से उस पार गिर जाना होता था जहाँ रात और दिन के बीच कोई विभाजन समय नहीं था। और उसी तरह सुख और दुख का भी। मसलन सुखी होते-होते अचानक उसके ठीक से पूरा होने के ऐन पहले दुख हरहरा कर तोड़फोड़ मचाता घुस आता। और दुख के चरम पर कोई भूली हुई या फिर आगत सुख की लहर का आभास ऐसे कौंधता कि, दुखी थे, अच्छा? जैसा चेहरा चौंक जाता। रंग भी सफेद स्याह कहाँ थे। वाटर कलर्स की तरह सब एक दूसरे में बहते घुलते मिलते। जैसे सब तरल था और कोई तयशुदा सीमा नहीं। जैसे पूरा ब्रह्माँड धड़कता हो, हर धड़कन पर उसका चेहरा बदल जाता हो, उसकी प्रकृति तक, उसका गंध रूप रस सब, और ये आदमी झुकता चलता फिर सीधा खड़ा होता, किसी

ऐनिमेशन फिल्म का कैरिकेचर... जिसकी अंतिम परिणिति फिर उस जीव की हो जो एक कोशिका से बना था। कि सब इतना दुरूह हुआ कि एकदम धुर सरलता में ही इस दुरूहता का भरण हो सके। कि जैसे बच्चे के मासूम भोलेपने में कुटिलता के सब बीज गुम्फित रहें। साईलेंट फैक्टर्स, जो हिस्सा उँगली के पोर से सबसे पहले छू जाये वही सबसे पहले जीवित हो, आकार ले।

...

रात में कई बार बूढ़ा उस तस्वीर को अपने कमरे में ले आता। लैम्प के पीले बीमार रौशनी में उस चेहरे को देखता। फिर उसाँस भरकर बगल के मेज़ पर एहतियात से रख देता। उसी एहतियात से अपने कपड़े बदलता, उन्हें सरियाता और बिस्तर के पायताने रख देता। टोपी उतारता, अपने सर को सहलाता फिर प्रार्थना जैसा कुछ बुदबुदाते लेट जाता। उसकी आँखों से कभी-कभी आँसू रिसते पर बारहा उसे मालूम नहीं पड़ता। अपने शरीर के अंग प्रत्यंग पर अब उसकी पकड़ धीमी होती जा रही थी। जैसे छोटे राजा क्षत्रप बगावत पर उतर आये हों।

रात को सोने के पहले औरत लैम्प बंद करने आती। तस्वीर उठाकर वापस सामने वाले हिस्से में जहाँ दुकान थी, वहाँ रख आती।

...

मुन्नी बेगम जब गातीं, बलमवा तुम क्या जानो प्रीत, महफिल में रस बरसता। शमादान में शमा लहराकर काँप जाती। सुनने वालों के दिल से आह उठती। मुन्नी बेगम का चेहरा पाक साफ संजीदा रहता। जैसे प्रीत से उनका कोई वास्ता न हो। ऐसे बेरुख नक्श पर टीस मारती आवाज़ कहर ढाती।

अल्लाताला ने जैसी सूरत दी थी वैसा ही गला भी दिया था। कहतें हैं जब पान खातीं तो रस की धार गले से उतरती दिखती। नाक की हीरे की लौंग कटार की तरह लश्कारा मारती।

राजा साहब और नवाब साहब हुक्के की पेंच से कश खींचते बेहोश होते। सिक्कों और नोटों से भरा थैला फर्श पर झंकार बजाता गिरता।

इन सब से गाफ़िल मुन्नी बेगम आँख मून्दें आलाप लेतीं... गंगा रेती में बँगला छवाय मोरे राजा, आवे लहर जमुने की...

उनकी आवाज़ में किसी बच्चे के गले सी मिठास थी। और उस भोलेपन के कच्चे गमक में किसी नायिका का मनुहार जब घुलता तो जान निकल जाती। गाढ़े शहद की शिथिलता, जैसे अभिसार के बाद की अलसाई नींद।

नवाब रिफ़ाकत अली बेग और राजा नौबहार राय में होड़ मची थी उनका नथ कौन उतारे। मुन्नी बेगम बेखबर, अपने सर की मलमल की ओढ़नी सँभालते, आलाप लेतीं। उनका छोटा सा मासूम चेहरा संगीत के रस में डूबता तमतमाने लगता। जैसे देवी जी चढ़ी हों...ऐसा परबतिया, जो मुँहलगी दासी थी, मुँह पर हाथ धरे बोलती।

कोठे की पहली मंजिल की खिड़की के नीचे

"बूढ़ा अपनी सुनहरी कमानी वाले फ्रेमलेस चश्मे से गली के सन्नाटे को ताकता, ग्रामोफोन सुनता। बार बार एक ही गीत। कोई ग्राहक भूले भटके आता तो अँधेरे सीलेपन से घबड़ा कर धूप भरी गली में तुरत लौट जाता। बूढ़ा चुप देखता, पतलून की जेब से घड़ी निकाल कर समय देखता।"

खड़ा नौजवान दीवार से पीठ टिकाकर आँख मूँद लेता। उसको लगता वो किसी तन्द्रा में है। उसके पाँव खड़े-खड़े अकड़ जाते। उसका शरीर कड़ा हो जाता। पर उसका मन धीरे-धीरे नदी बनता जाता। उसको लगता एक दिन उसका शरीर बहने लगेगा। मुन्नी बेगम एक छोटी सी मछली बन जायेगी और उसकी नदी में तैरेगी। फिर दोनों बहते हुए किसी और दुनिया में निकल जायेंगे। उस आने वाले दिन की उम्मीद में उसकी छाती ऐसे भर जाती कि साँस तक का बोझ उसको तोड़ देगा, की अनूभुति होती। लौंगलत्ती, मुन्नी बेगम की खासमखास ऊपरी मंजिल की खिड़की से झाँकती और उफ्फ करती।
ये लौंगलत्ती का ही करम था कि महफिल खत्म होने पर एक रात उसने उस नौजवान को लुका छिपाकर मुन्नी के कमरे में पहुँचाया था।
...

बूढ़ा उलटी हथेली से अपने होंठ पोंछता है। आस्तीन का कोर मैल से चीकट हो चला है। दुकान के अँधेरे ठंडेपन में नम मिट्टी-सा सुकून है। बाहर धूप की तरफ देखते उसकी आँखें पनियाती हैं। उसके पंजों पर झुर्रियों का जाल है, नीले नस रस्सी की तरह कड़े होकर उभर आये हैं। खाल पर भूरे लाल तिल और चकत्तों की भरमार है। मेज़ पर रखी घंटी को कुछ गुस्से से बार बार दबाता है। औरत झल्लाती हुई आती है
“क्या है?”
“तुमने आज मुझे सूप नहीं दिया?”
औरत बिना कुछ कहे मुड़ जाती है। दो मिनट बाद गंदा बोल जिसमें अब भी सूप तलछट पर तैर रहा है, उसके चेहरे की तरफ ठेलती है,
“अब याद आया ?”

फिर गुस्से से धमधमाती लौट जाती है। बूढ़ा आँख झपकाता देखता है। उसके होंठों के कोर एक महीन रुलाई में नीचे गिर जाते हैं। धीमे से उठता है, तस्वीर वाली औरत को छाती से लगाकर कुछ देर खड़ा रहता है।

औरत धीमे दबे आवाज़ आती है। बूढ़े के हाथ से तस्वीर लेकर शेल्फ पर रखती है फिर उसका हाथ पकड़ कर नरमी से उसे कुर्सी तक ले जाती है। मेज़ पर एक कप ओवलटीन और दो अरारोट के बिस्किट तशतरी में रखे हैं। कप से भाप उठ रही है।

“ये खा लो अभी फिर आधे घंटे में खाना लगाती हूँ।“ औरत की आवाज़ में बच्चे को पुचकारने सा दुलार है। उसका सख्त चेहरा नरम पड़ गया है। बहुत ज़िंदगी देख ली और कुछ मिला नहीं जैसा थक जाने वाला भाव उसके चेहरे पर है। पर कड़ी मिट्टी पर बारिश की बूँदों के गीलेपन का आभास भी है।

बूढ़ा बच्चे की तरह हँस पड़ता है, कहता है... “लौंगलत्ती तुम बहुत अच्छी हो।“ फिर उठकर ग्रामोफोन पर रेकार्ड लगाता है...
बलमवा तुम क्या जानो प्रीत....

मुन्नी बेगम रातों रात भागीं थीं। नवाब बेग की सोने की मुहरों वाली भारी थैली ले कर भागीं थीं। लौंगलत्ती राज़दार थी। ज़ैबुनिस्सा खैरुनिस्सा, फरखंदा फरज़ंदा, सबको छोड़ लौंगलत्ती भी गायब हो गई थी एक दिन। ब्रैडली हडसन की रेलवे की नौकरी थी। भाग जाना आसान था। रेलगाड़ी बदलते, एक शहर से दूसरे। लिलुआ, मखलौटगंज, कलकत्ता... जाने कहाँ-कहाँ। जीवन भर सेवा की लौंगलत्ती ने। पहले मुन्नी बेगम की फिर उनकी मौत के बाद ब्रैडली साहब की। क्यों की ?...सोचती है कई बार।

पुराने चाँदी के बर्तन साफ करते धीरे से कुछ बेसुर गुनगुनाती है, बलमवा तुम क्या जानो... फिर प्रीत कहते आवाज़ लड़खड़ाती है, खाँसती है फिर खुद से हँसती पूरा करती है...
पीर, तुम क्या जानो पीर ! बलमवा...

जगदीश पंकज

पिलखुआ, गाजियाबाद (उ.प्र.) में जन्मे जगदीश पंकज जी सुप्रसिद्ध नवगीतकार हैं, आपकी नवगीत एवं कविता विधा की आठ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, कई संस्थाओं से पुरस्कृत एवं सम्मानित.

ईमेल - jagdishjend@gmail.com

जगदीश पंकज दो नवगीत

1.

कहाँ-कहाँ पर जाकर खोजें

कहाँ-कहाँ पर जाकर खोजें
अपने को ही हम
जीवन के पृष्ठों का कितना
बदल गया अनुक्रम

घटना-परिघटना-दुर्घटना से
थोड़ा छँटकर
साँसों को बंधक रख जीवन
मिला सदा बँटकर
शायद हमने ही पाले हैं
अपने-अपने भ्रम
कहाँ-कहाँ पर जाकर...

कुछ मजबूरी, कुछ आडम्बर
ढोते हुए चले
अपने विश्वासों ने मिलकर
हम हर बार छले
मृगजल के बहलावे देते
आभासी उपक्रम
कहाँ-कहाँ पर जाकर...

आसमान को रहे ताकते
गिनकर तारों को
और प्रार्थना में माँगा
निर्मूल सहारों को
लक्ष्य अधूरे रहे सभी के
व्यर्थ गया हर श्रम
कहाँ-कहाँ पर जाकर...

....

2.

साँस की नसैनी पर

साँस की नसैनी पर
कदम-कदम चढ़ने से
पहुँच गये उम्र की मुँडेर पर

आवाजें बुला रहीं
नीचे आ जाने को
ऊपर कुछ नहीं मिला
असमय में लाने को
सम्मोहन शान्त हुआ
अपने ही द्वारे का
लौट गया अपनों की टेर पर
साँस की नसैनी पर ...

अलसाकर बंद किये
यादों के सब किवाड़
अचरज से देख रहे
खुद को सब आँख फाड़
विस्मय से देख रही
आँगन की फुलवारी
खुंभी जो घूरे के ढेर पर
साँस की नसैनी पर ...

कितनी अँगडाई ली
कितनी ली जमुहाई
यौवन के आँगन में
उत्सव को ललचाई
मेले में मेल नहीं
होने-अनहोने का
चर्चा में विषय बना देर पर
साँस की नसैनी पर ...

जितना एकान्त मिला
ऊपर को चढ़ने से
बढ़ गया अकेलापन
खुद को ही गढ़ने से
देरी को कोस रहे
जाने-अनजाने में
बातें हैं, बढ़ते अंधेर पर
साँस की नसैनी पर ...

पवन कुमार जैन

जायस, जिला अमेठी (उ.प्र.) में जन्में और वर्तमान में लखनऊ निवासी पवन कुमार जैन व्यंग्यकार व हाइकुकार हैं, बैंकिंग सेवा से सेवानिवृत्त पवन जैन जी की व्यंग्य एवं हाइकु विधा में 4 पुस्तकें प्रकाशित हैं.

ईमेल - jain.pawankumar@gmail.com

छुट्टियों की छुट्टी

-पवन कुमार जैन

"दोस्तो, मास्साब का वह फार्मूला 44 पूरी तरह से कामयाब तो नहीं हुआ परंतु अब मुझे यह समझ में आ गया है कि भारत कृषि प्रधान देश के साथ-साथ छुट्टी प्रधान और धरना प्रधान देश जरूर है... हमारे चारों तरफ छुट्टियाँ ही छुट्टियाँ बिखरी पड़ी हैं..."

बचपन में मास्टर साहब ने एक बात घुट्टी की तरह घोलकर पिला दी थी कि भारत एक कृषि प्रधान देश है और यहाँ की 80 प्रतिशत जनता गाँवों में निवास करती है... मास्साब की हिदायत थी कि कोई भी निबंध आ जाये शुरूआत बस यहीं से करनी है... इसके साथ ही उन्होंने "मेरे मित्र" पर भी निबंध रटवाया था कि- मेरे कई दोस्त हैं परंतु रघुनाथ मेरा सबसे पक्का मित्र है... परंतु इम्तिहान में मित्र की बजाय "मेरे पिता" पर निबंध आ गया... अब बच्चे अचानक हुए इस परिवर्तन को समझ नहीं पाए और उन्होंने मित्र पर याद किए गए निबंध को जैसे का तैसा टीप दिया... बस इतनी अकल जरूर लगा दी कि मित्र की जगह पर पिता को फिट कर दिया... इस तरह अब निबंध कुछ इस तरह बना कि- मेरे कई पिता हैं परंतु रघुनाथ मेरा सबसे अच्छा पिता है... मास्साब ने जब यह निबंध पढा तो उन्होंने अरहर की छड़ी से पीठ पर जो निशान बनाए वह आज भी टैटू से ज्यादा मजबूत छाप लेकर अपनी उपस्थिति दर्ज़ करा रहे हैं...

दोस्तो, मास्साब का वह फार्मूला 44 पूरी तरह से कामयाब तो नहीं हुआ परंतु अब मुझे यह समझ में आ गया है कि भारत कृषि प्रधान देश के साथ-साथ छुट्टी प्रधान और धरना प्रधान देश जरूर है... हमारे चारों तरफ छुट्टियाँ ही छुट्टियाँ बिखरी पड़ी हैं... नया साल शुरू होते ही हर स्टूडेंट और नौकरी करने वालों की जेब में पूरे साल की छुट्टियों की फेहरिस्त मिल जाएगी... दफ्तर में काम पर चर्चा कम होती है मगर छुट्टियों पर गरमागरम चर्चा होती रहती है... इन स्थायी छुट्टियों के अलावा भी सरकारें जब-तब नए-नए तरीके की छुट्टी घोषित करके जनता को

इलायची पकड़ाती रहती है और हमें निकम्मा बनाने का कोई मौका नहीं छोड़ती... हम काम पर कम और छुट्टियों पर ज्यादा विश्वास करने लगे हैं।

सरकारी दफ्तरों में भी कई तरह की छुट्टियों की व्यवस्था है– कैजुअल लीव, प्रिविलेज लीव, मेडिकल लीव, स्पेशल लीव, मैटरनिटी लीव... अब तो पैटरनिटी लीव भी शुरू कर दी गई है... सरकारी दफ्तरों में दो तरह के लोग होते हैं। एक जो ज्वाईन करने के बाद केवल दफ्तर जाते हैं और कुरसी पर कोट टाँगकर दफ्तर के बाहर कैन्टीन में केवल अन्तर्राष्ट्रीय पालिटिक्स डिस्कस करते हैं... अगर आप उनके बारे में बगल वाले से पूछें तो वह कोट की तरफ इशारा करते हुए कह देंगे कि अगर कोट टँगा है तो आए जरूर होंगे.... दूसरी तरह के वह कर्मचारी होते हैं जो बैल की तरह अपने काम में लगे रहते हैँ... लगता है पूरा देश इनकी वजह से ही चल रहा है... वास्तव में ये लोग काम के प्रति उतने समर्पित नहीं होते बल्कि ऊपरी इनकम की चाह में वे इतना काम करते हैं... ऐसे कर्मचारी कभी छुट्टी भी नहीं लेते बल्कि छुट्टी के दिन भी दफ्तर में डटे रहते हैं ... बेशक घर में किसी की मौत हो जाए तो भी वे दफ्तर पहुँच जाते हैं।

दोस्तो, कुछ विभाग ऐसे होते हैं जहाँ छुट्टियाँ मिलने में कफी परेशानी होती है... अगर छुट्टी मिल जाए तो लगता है कि लाटरी लग गई... इन विभागों के कर्मचारी भी बड़े घाघ टाइप के होते हैं... छुट्टी लेने के लिए तमाम तरह के बहाने गढते रहते हैं... अगर इन बहानों का कलेक्शन किया जाए तो पूरा का पूरा ग्रंथ तैयार हो सकता है– "दफ्तर से छुट्टी लेने के एक हजार तरीके"... हमारे बचपन के एक मित्र छोटेलाल जिसे हम लोग छुट्टन कहते हैं वह जुगाड़-पानी करके किसी तरह पुलिस में भर्ती हो गया... छुट्टन बचपन में गुल्ली-डंडे का माहिर खिलाड़ी था... क्या निशाना लगाता था पठ्ठा... वह मुझे हमेशा हरा देता था और पूरी फील्ड में खूब दौड़ाता था... कैसी भी गुल्ली हो उसके डंडे से चिपककर हवा में तैरती थी... मैं दौड़-दौढ़ कर बेदम हो जाता था... शायद ऐसे ही क्षणों में मेरे मुँह से श्राप निकल गया कि बेटा जितना मुझे दौड़ा रहे हो... एक दिन तुम भी इतना ही दौड़ोगे... कदाचित मेरे इसी श्राप की वजह से वह पुलिस विभाग में भरती हो गया। बेचारा महीनों घर की शकल नहीं देख पाता था... उसकी यह हालत देखकर किसी दोस्त ने सलाह दे दी कि साहब से कहो कि पत्नी की तबियत बहुत खराब है... वह जरूर छुट्टी दे देंगे... वह रोनी सूरत बनाकर सीधे साहब के पास पहुँचा और नमक-मिर्च लगाकर अपनी

"इन विभागों के कर्मचारी भी बड़े घाघ टाइप के होते हैं... छुट्टी लेने के लिए तमाम तरह के बहाने गढते रहते हैं... अगर इन बहानों का कलेक्शन किया जाए तो पूरा का पूरा ग्रंथ तैयार हो सकता है– "दफ्तर से छुट्टी लेने के एक हजार तरीके"..."

बात कह दी– साहब ने पहले तो उसे ऊपर से नीचे देखा और फिर डपटते हुए कहा कि– जानते हो तुम्हारी पत्नी का फोन आया था हमारे पास... वह कह रही थीं कि इसे छुट्टी बिल्कुल मत देना... यह घर में दारू पीकर आता है और सबसे झगड़ा करता है... कोई छुट्टी-वुट्टी नहीं है जाकर अपना काम करो... वह बाहर आकर सोचने लगा कि जब मेरी शादी ही नहीं हुई तो साहब के पास फोन किसका आया था।

दोस्तो, आज़ादी के बाद तो छुट्टियों का चलन और भी बढ गया है... रेस्टोरेंट में बढ़ती भीड़ देखकर लगने लगा है कि लोगों के घरों में किचन ने छुट्टी कर रखी है... किचन का साइज़ भले ही बढ गया है मगर चूल्हे की गरमाहट कम हो गई है... जोमैटो-फौमैटो ने लोगों के किचन सूने कर दिए हैं।

हमको याद नहीं पड़ता कि अम्मा ने कभी छुट्टी ली हो... सुबह ले शाम तक का रूटीन ही उन्हें ऊर्जा देता था और जब कभी ऊर्जा में थोड़ी भी कमी पड़ती थी या बोरियत महसूस करती थीं तो चैले या चिमटे का सख्त प्रहार हम लोगों की पीठ पर बिना गिने करके फुलचार्ज हो जाती थीं... दोस्तो, ऊर्जा प्राप्त करने का उनका यह तरीका आज तक मुझे समझ में नहीं आया... हमने सोचा कि हो सकता है कि अम्मा को अपने काम से छुट्टी नहीं मिलती इसलिए झल्लाहट में हमारी पीठ सुजा देती हैं... इसका तोड़ निकालने के लिए एक बार मैंने अम्मा को कान्फीडेंस में लेते हुए कहा कि अम्मा तुम चौबीसों घंटे घर-गृहस्थी में खटती रहिती हो... कभी छुट्टी क्यों नहीं ले लेतीं ...पहले तो उन्होंने मेरी बात पर बिल्कुल ही कान नहीं दिया मगर जब मैंने उन्हें अलग-अलग तरीके से खुसुर-फुसुर करते हुए समझाया तो मेरी बात उनके समझ में आई... उन्होंने बिना भूमिका बनाए हुए पिताजी के सामने छुट्टी की अर्जी पेश कर दी, हालाँकि उनकी आवाज़ में अपेक्षित गर्मजोशी नहीं थी... पिताजी ने उनकी अर्ज़ी सुनकर पहले तो पचीसों कोने का मुँह बनाया, माथे के बल को ऊपर नीचे सहलाया और कुछ निर्णय लेने की मुद्रा में भौंहें तानते हुए पूछा कि छुट्टी तो ठीक है मग़र यह मश्विरा कहाँ से ट्रेवल करते हुए तुम्हारे पास तक आया है... पिताजी के अचानक किए जाने वाले इस सवाल की अम्मा को बिल्कुल ही उम्मीद नहीं थी... अम्मा ने न चाहते हुए भी मेरी तरफ तिरछी नज़र से देख भर लिया और फिर क्या था पिताजी ने पूरे सीन को समझकर उसका उपसंहार करने के लिए चूल्हे से जलती हुई लकड़ी निकालकर पूरी शिद्दत के साथ मेरी पीठ पर जमकर सुताई करनी शुरू कर दी... वह तो ऐन वक्त पर बिल्कुल फिल्मी अंदाज़ में अम्मा मेरे ऊपर गिर ही पड़ीं और मुझे कबूतर की तरह दबोच ही लिया... चूँकि पिताजी आखिरी वार का संकल्प ले चुके थे इसलिए उस वार को रोक पाना अब उनके वश में नहीं था और अम्मा को यह ब्रहमास्त्र सहना पड़ गया... मैं कई दिनों तक पीठ में हल्दी और चूने का लेप कराता रहा... तब से लेकर आज तक हमारे घर में कोई भी छुट्टी का नाम तक नहीं लेता... ■

रामकरन

पाकरडाँड़, बस्ती (उत्तर प्रदेश) में जन्में राम करन, लघुकथा एवं बाल साहित्य में सक्रिय हैं, वायुसेना से सेवानिवृत राम करन वर्तमान में शिक्षक है, बाल साहित्य की 3 पुस्तकें प्रकाशित हैं, अनेक संस्थाओं से सम्मानित/पुरस्कृत हैं।

ईमेल - ramkaran0775@gmail.com

काँटा

-राम करन

बारहों महीने वे व्यस्त रहते। मैं सुबह उन्हें खेत में जाते देखता और शाम को खेत से आते। कभी वे खुरपा-खुरपी, कभी हँसिया, कभी कुदाल, कभी फावड़ा आदि लेकर जाते। एक दिन मैने पूछ लिया -"कितना जोतते हैं?"
"पाँच... पाँच बीघे" वे बोले।
"तब तो खाने की कमी नहीं होती होगी।"
"हाँ, नहीं होती," वे बोले।
"बेचना पड़ता होगा?"
"नहीं। बेचने भर का नहीं होता" वे सहजता से बोले।
लेकिन मैं चकित था। मैंने पूछा- "पाँच बीघे का अनाज खा जाते हैं?"
"अरे गल्ले पर है... खेत मेरा नहीं है।"
"आपका कितना बीघा है?"

उन्होंने अपने हाथ से कुछ नहीं का इशारा किया।

"भाई-पाटीदार के पास भी नहीं होगा?"
"नहीं, किसी के पास नहीं है।"
"लेकिन खेती सब करते हैं.... सब किसान हैं।"
वे मुस्कराए और बोले- "हाँ।"
"तब तो अनुदान-सहायता कुछ नहीं मिलता होगा?"
"कहाँ से मिलेगा? जब किसी के नाम पर एक धुर भी नहीं है।"
"दादा-परदादा से ही ऐसे..."
"हाँ। दादा-परदादा का भी खेत नहीं था।"
"लेकिन गाँव के दूसरे लोगो के पास तो पाँच-पाँच दस-दस बीघा है।"
"उन्हें भगवान ने दिया है।"
"मतलब आपको भगवान ने नहीं दिया?"
"हाँ, ऐसा ही है।"
मै उनको और खँगालने लगा, "भगवान ने आपको क्यों नहीं दिया?"
"अब नहीं दिया तो नहीं दिया। क्यों नहीं दिया ये वही जाने," वे मुस्कुरा कर बोले।
"अच्छा आपको लगता है कि भगवान ही सबको देता है? देता है तो भेदभाव क्यों?" मैंने उन्हे टटोला।
इस बार वे झल्लाए, "भगवान के नाम पर संतोष तो करने दीजिए... कहाँ सिर फोड़ लूँ... ।"
मैं समझ गया कि काँटा बहुत गहराई में है।

अनीता सैनी दीप्ति

बगड़, ज़िला झुँझनू (राजस्थान) में जन्म, वर्तमान में जयपुर निवासी,
कविताओं के दो संग्रह प्रकाशित. लघुकथा एवं कविता विधाओं में लेखन,
कविता और लघुकथाओं के लिए कुछ संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत.

ईमेल - anitasaini.poetry@gmail.com

ग्रामीण औरतें

-अनीता सैनी दीप्ति

ग्रामीण औरतें

ये कागद की लुगदी से
मटके पर नहीं गढ़ी जाती
और न ही
मिट्टी के लोथड़े-सी चाक पर
चलाई जाती हैं।
माताएँ होती हैं इनकी
ये ख़ुद भी माताएँ होती हैं किसी की
इनके भी परिवार होते हैं
परिवार की मुखिया होती हैं ये भी।
सुरक्षा की बाड़ इनके आँगन में भी होती है
सूरज पूर्व से पश्चिम में इनके लिए भी डूबता है
रात गोद में लेकर सुलाती
भोर माथा चूमकर इनको भी जगाती है।
गाती-गुनगुनाती प्रेम-विरह के गीत
पगडंडियों पर डग भरना इन्हें भी आता है
काजल लगाकर शर्मातीं
स्वयं की बलाएँ लेती हैं ये भी।
भावनाओं का ज्वार इनमें भी दौड़ता है
ये भी स्वाभिमान के लिए लड़ती हैं
काया के साथ थकती सांसें
उम्र के पड़ाव इन्हें भी सताते हैं ।
छोटी-सी झोपड़ी में
चमेली के तेल से महकता दीपक
सपने पूरे होने के इंतज़ार में
इनकी भी चौखट से झाँकता है।
सावन-भादों इनके लिए भी बरसते हैं
ये भी धरती के जैसे सजती-सँवरती हैं
चाँद-तारों की उपमाएँ इन्हें भी दी जाती हैं
प्रेमी होते हैं इनके भी,ये भी प्रेम में होती हैं।

दीपक गुप्ता

होशंगाबाद (म.प्र.) में जन्मे दीपक गुप्ता वर्तमान में न्यू जर्सी, अमेरिका में रहते हैं, नाटक-लेखन के प्रति गंभीर विचार रखने वाले दीपक गुप्ता नाटकों के मंचन से भी जुड़े हुए हैं, लोक कलाओं के प्रचार- प्रसार में आपकी विशेष रुचि है।

ईमेल - dgupta70@yahoo.com

'राई' से पहाड़ तक

-दीपक गुप्ता

"भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि नाटक एक ऐसी कलात्मक विधा है जिसमे सभी कलाओं का समावेश होता है। हाई स्कूल से आज तक नाटक करते हुए ये बात कभी व्यवहार में नहीं देखी, लेकिन अवचेतन में यह सदा विद्यमान रही...."

लोक जीवन में पग–पग पर लोक साहित्य और लोक कलाएँ बिखरी पड़ी हैं। लोक मानव ने इन्हीं कलाओं के बल पर अपने अधिवास की सदियाँ बिता डाली हैं और तमाम अभावों के बीच भी इतना खुश इतना संतुष्ट रहता चला आया है कि आश्चर्य होता है। साहित्यिक व्यक्ति एक–दो कविता या कहानी लिखकर घमंड करने लगता है कि उसने इतना बड़ा सृजन कर डाला आदि आदि... परंतु लोक मानव तो इन कलाओं के बीच रहता नहीं बल्कि सदियों से इनके बीच जीता है। पं. माखनलाल चतुर्वेदी अपने निबंध 'कला और गाँव' में लिखते हैं–

'कला गाँवों में पनपती है, शहरों में नहीं। हम पकवान खाकर रसोइये पर प्रसन्न होते हैं– काश किसान पर रीझते तो कितना अच्छा होता ? जिस समय सिर पर से पानी बहता हो, गले में साँप सोने न दे रहा हो, बदन पर लिपटा चिथड़ा हो और पास में पार्वती–पर्वत पुत्री खड़ी पसीना पोंछ रही हो, जब ऐसे उस गरीब पर मस्तक झुके तभी कला की सच्ची पूजा है, शंकर–पूजा है। वह किसान ही हमारा शंकर है। साँप टैक्स है, चिथड़ा गरीबी है, पार्वती उसकी पत्नी है। साहित्यकार कहता है, मेरी कविता में अलंकार है, मेरी कला सुन्दर है। मुझे उस किसान से क्या सम्बंध ? भाड़ में जाय तेरा अलंकार और तेरी कला। अलंकार खेतों में लहलहा रहे हैं और तू अपने अलंकार और कला को चिल्ला रहा है। मानव के इतने बड़े दुश्मन, तुझे हम साहित्यक कहें।'

यह सच है कि हमने लोक कलाओं की निरंतर अवहेलना की है और परिणाम हमारे सामने है कि आज ये लोक कलाएँ विलुप्ति के कगार पर हैं ।

भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में कहा गया है

कि नाटक एक ऐसी कलात्मक विधा है जिसमे सभी कलाओं का समावेश होता है। हाई स्कूल से आज तक नाटक करते हुए ये बात कभी व्यवहार में नहीं देखी, लेकिन अवचेतन में यह सदा विद्यमान रही। अमेरिका में आकर नाटकों का मंचन जब शुरू किया तब हिंदी की वह ज़मीन नहीं थी जिस पर ऐसी कोई कला पनप सके जो मौलिक रूप से हिंदी की ही रचना हो, क्योंकि उसका दर्शक वर्ग सुनिश्चित नहीं था, और तकनीक में हिंदी की उतनी पैठ नहीं थी, लेकिन समय के पहिये ने सब कुछ बदल दिया और हिंदी का एक दर्शक वर्ग विकसित हुआ जो उन लोगों का था जो अपनी वयस्क अवस्था में यहाँ आये थे।

नाटक करते करते ये एहसास सदा बना रहा कि नाटक सर्वव्यापी नहीं है, जैसा भरत मुनि ने कहा है, इसे देखने वाला वर्ग सीमित है, इसे विस्तृत कैसे किया जाए।

हमारे बुंदेलखंड का लोकनृत्य है 'राई', प्राचीन काल में बुंदेलखंडियों की कुलदेवी करीला माई के प्रांगण में होनेवाला यह नृत्य जनजीवन के लिए मनौती, उनके विश्वास की अभिव्यक्ति का एक अहम हिस्सा था, बच्चों के मुंडन, शादी ब्याह आदि में करीला देवी की पूजा की जाती थी।

'राई' नृत्य भी उन्हीं लोक कलाओं में से एक है जिन्हें उचित प्रश्रय की आवश्यकता थी और यह आश्रय लोक समाज के जमींदारों और रसूखदारों के द्वारा मिला जिससे यह कला खूब विकसित हुई। लेकिन नृत्य की यह खूबसूरत कला भी दागदार तब हाने लगी जब उन्हीं जमींदारों और रसूखदारों की खराब नीयत का ग्रहण इस पर लगना शुरू हो गया– कालान्तर में यह खूबसूरत नृत्य कला देहव्यापार और वेश्यावृति की विभीषिका से ग्रसित हो गई।

भोपाल की नवोदित लेखिका इंदिरा डांगी जी से मेरी भेंट हुई जो उन दिनों बुंदेलखंड के आदिवासी जन–जीवन पर आधारित एक किताब पर काम कर रही थीं। उनसे बातचीत करते समय मैंने जैसे ही कहा कि ढँग के नाटक नहीं हैं तब उन्होंने कहा कि वे नाटक लिखना चाहती हैं बुंदेलखंड के कलाकारों की व्यथा पर क्या आप उसका मंचन करेंगे। वहाँ से कहानी शुरू हुई नाटक 'राई' की। प्रयोग समूह नवीन

विषयों पर 2011 से नाटक कर रहा है अतः हमने 'राई' नृत्य पर केन्द्रित नाटक के मंचन करने का निश्चय किया।

हमने स्थानीय कलाकारों के साथ 'राई' नाटक का मंचन किया और साथ ही भारत से अंतरराष्ट्रीय स्तर का रजत कपूर निर्देशित हैमलेट का भी मंचन किया।

इंदिरा जी ने 'राई' नाटक को बीच में अधूरा लिखकर छोड़ दिया किन्तु अंत उनकी समझ में नहीं आया तब हमने सोच कर उसका अंत लिखा और उसे एक आशावादी अंत दिया। फिर लगा की नर्तकियों के जीवन की कथा में नृत्य नहीं हो तो फिर नाटक कैसा, उसके बाद खोज शुरु हुई राई–नृत्य के गीतों की, तब पाया की राई नृत्य के अधिकांश गीतों की भाषा अश्लील है, यह जानकर इसकी दुर्दशा पर मन खिन्न हो गया कि जिस बगीचे की देख भाल न हो उसका उजड़ना तय है, बगैर देखभाल के वह बंजर नहीं होता बल्कि उस जगह को खरपतवार भर देती है ऐसा ही राई के साथ हुआ है।

खोज जारी रही और फिर तीन गीतों को ढूँढ़ा गया जिन्हें शामिल किया जा सकता था। गीत तो मिल गए किन्तु ऐसे लोक की धुनों को गाएगा कौन ये सोचकर खोजना शुरु किया गया गाने वालों को और काफी मशक्कत, कई दौर के अभ्यास के बाद कुछ लोग मिले जो लोक गायन की शैली में इन्हें गा सकें, मजे की बात यह थी कि गाने वालों ने कहा कि उन्हें राई गीत गाना ही है क्योंकि इसमें उनका भी प्रशिक्षण हो रहा है।

लोक कलाएँ ऐसे ही लुप्त नहीं हुईं, वो मछली की तरह ही होती हैं बिना 'लोक सरंक्षण' के उनका मृत होना निश्चित ही है, कभी रुककर सोचना चाहिए कि हमारे आसपास सब कुछ मर ही क्यों रहा है और हमारा जीवन इतना 'कलाविहीन' आखिर क्यों हो रहा है। जीवन की तीव्र गति ने उसे 'उथला' बना दिया है और उसका परिणाम हम हर तरफ देख ही रहे हैं।
जब आप कला के संपर्क में आते हैं तो आप केवल कला को ही नहीं बचा रहे होते, प्रकारांतर से वह भी आपको समृद्ध करती है, काश! इस अन्तर्सम्बन्ध को हम आधुनिकता के दम्भ में जीते लोगों ने भी समझ लिया होता तो आज जिन्दा रहने और जीवित होने के अंतर को भी हम बेहतर

समझ पाते।

राई नाटक की तैयारी ने सामंती समाज के दोनों पहलुओं से हमें नजदीक से परिचित कराया, उसका अच्छा पक्ष कि मरे मारे ही सही किन्तु उसमे लोक कलाएँ बच जाती थीं किन्तु उसका स्याह पक्ष था कि 'मनुष्य' के स्तर पर कोई नहीं था न कलाकार और न ही वो सामंती भेड़िये जिन्हें कुछ भी कर लेने कि आज़ादी थी।

बहरहाल फिर अभ्यास शुरू हुआ राई के नाटक का, हर अभ्यास के साथ एक बात समझ आयी कि स्त्री के प्रति प्राचीन समाज कितना निष्ठुर और निकृष्ट था। इसलिए जो लोग इतिहास के किसी कालखंड को 'स्वर्ण काल' बताकर पेश करते हैं और उस ओर लौटने की बात करते हैं, वो मिथ्या ही है, ऐसा कोई स्वर्ण काल नहीं था, बल्कि स्वर्ण काल वर्तमान है जिसमे हम जी रहे हैं जहाँ समता, बंधुता और न्याय की अवधारणाओं के लिए संघर्ष किया जा सकता है। ऐसी कोई भी कोशिश जो वक़्त के पहिये को पीछे की तरफ मोड़ेगी उसे स्त्री होने नहीं देगी क्योंकि वो कुछ भी हो जाए अपने लिए उस नरक का चुनाव नहीं करेगी जहाँ से वह बमुश्किल निकल कर आयी है।

नाटक की तैयारी के दौरान हम सभी धीरे–धीरे गायक हो गए और लोक धुनों पर आधारित गीत हमारी जुबान पर भी चढ़ गए। कला की सरलता उसकी बौद्धिकता की कमी को नहीं दर्शाती बल्कि उसकी सहजता को दर्शाती है और दीर्घ काल में 'सहज' ही टिकता है। हमारे लोक गायन के लिए अच्छे स्वर और अच्छे गले की आवश्यकता नहीं है बल्कि अपने आपको इस समष्टि से जोड़कर उसके समक्ष अपनी क्षुद्रता को समझने की ज़रूरत है।

राई में एक सम्वाद है 'कहते हैं हम सबके अंदर एक ईश्वर होता है और मेरे अंदर का ईश्वर भी अपना रास्ता खोज लेगा' यही ईश्वर का वह जनवादी स्वरुप है जिसे हमारे बौद्धिक देख नहीं पाते, इस धरती का धर्म न शास्त्र में हैं और न शस्त्र में वह है लोक की इसी निजी किन्तु सामूहिक भाव से जुडी अवधारणाओं में जहाँ सर्व साधारण अपने अंदर के ईश्वर की अँगुली पकड़कर अपना मार्ग खोज लेता है और एक ऐसे जीवन का निर्माण करता है जहाँ ज्ञान से अधिक बोध हो।

"लोक कलाएँ ऐसे ही लुप्त नहीं हुईं, वो मछली की तरह ही होती हैं बिना 'लोक सरंक्षण' के उनका मृत होना निश्चित ही है, कभी रुककर सोचना चाहिए कि हमारे आसपास सब कुछ मर ही क्यों रहा है और हमारा जीवन इतना 'कलाविहीन' आखिर क्यों हो रहा है। ...."

ऐसे ही एक और जगह आता है कि आदमी जीवन में सब कुछ पा जाता है किन्तु सच्चे प्रेम को तरसता है, यह जीवन की तमाम उपलब्धियों के रहते भी प्रेम की केन्द्रीयता को स्थापित करता है। आधुनिक दौर में यह जानते तो हम भी है किन्तु जानते हुए भी हमारे मन, मरुस्थल हो रहे हैं क्योंकि जब चुनाव करने की बारी आती है तब 'प्रेम' शायद सबसे निचले पायदान पर पहुँच जाता है । यह सब सिद्धांत को समझने से नहीं निर्णायक क्षणों में उसे पकड़ कर रखने से

टिकता है और प्राचीन लोक यह सहजता से कर पाता था किन्तु आज वैसा नहीं होता।

राई के अभ्यास के दौरान एक और घटना हुई, वह थी हम सभी के अंदर 'सामूहिकता' के भाव का मजबूत होना। एक टीम जो लगभग दस वर्षों से लगातार नाटक प्रस्तुत कर रही हो उसमे जुड़ाव नहीं था यह बात अटपटी लग सकती है किन्तु बात कार्य की नहीं है, बात भाव–भूमि की है कार्य के स्तर पर जुड़े लोग भाव के स्तर पर अलग ही थे, ताइवान के किसी कंपनी की तरह जहाँ कंप्यूटर असेम्बल किये जाते हैं बनाये नहीं जाते।

'राई' के विकास ने हम सभी को भानुमती के कुनबे से हटाकर कब एक सामजिक इकाई में तब्दील कर दिया पता ही नहीं चला। अपने अपने जीवन वाद्य को बजाकर एक लोक धुन को जीवंत करते लोग, नाटक से जीवन और जीवन सा नाटक मंचित करने में तल्लीन लोग, जब 'राई' करने मंच पर पहुँचे तो कोई भी आधुनिक नहीं था सभी 'राई' करने वाली 'नचनारियों' के कबीले के लोग थे, अपने सामंती राजाओं से

लड़ते और 'राई' की गरिमा को स्थापित करने के मिशन में जुटे इस मुल्क के मूल निवासी!

भारत के ठेठ लोक जीवन की एक भरी पूरी नृत्य कला को सम्मान दिलाने की दिशा में जब हमने सात समंदर पार अमेरिका में 'राई' जैसे लोक नृत्य पर केन्द्रित नाटक का सफल मंचन किया तो ऐसा महसूस हुआ मानों 'राई' को पहाड़ बनने का हमारा सपना साकार हा रहा हो। कुछ पल को ही सही हमने अपने लोक, अपनी संस्कृति, अपनी लोक कला को साक्षात जी लिया।

डा॰ अनिता कपूर

रेवाड़ी (हरियाणा) में जन्मीं और केलिफोर्निया, अमेरिका में रह रही डा॰ अनिता कपूर की कविता, हाइकु, लघुकथा आदि विधाओं की 9 पुस्तकें प्रकाशित हैं, हिंदी हाइकु कोश में भी आपकी हाइकु कविताएँ सम्मिलित हैं,अनेक संस्थाओं से सम्मानित/पुरस्कृत हैं।

ईमेल - anitakapoor.us@gmail.com

हाइकु

-डा॰ अनिता कपूर

आये थे दुख
पाहुने बनकर
मालिक बने
...

उधड़े रिश्ते
सीती हुई हमेशा
याद आती माँ
...

कागजी रिश्ते
करूँ क्या घटा जमा
भूली गणना
...

चाँद का फूल
लेकर भागी रात
घुप्प अँधेरा
...

जल ही गई
सिगरेट उम्र की
धुआँ भी नहीं
...

थकते नहीं
केंचुली बदलते
मन के साँप
...

देखो चख के
लम्हा-लम्हा जिंदगी
कितनी मीठी
...

नारी है वृक्ष
बोंजाई न बनाओ
मिलेगी छाँव
...

बर्फीली चुप्पी
सन्नाटे से सिहर
बूँद में ढली
...

मन मुंडेर
यादों की चिड़िया
चुगती रिश्ते
...

माँ की गोद है
दुखों की बारिश में
इक छाता सी
...

माँ को चुराते
थोड़ा-थोड़ा करके
बच्चे उसके
...

मैं तुम बनी
तुम मैं बन जाते
कभी न हुआ
...

यादों के खत
भटकते पहुँचे
बरसों बाद
...

रेतीले रिश्ते
हवा के डर से ही
बदलें रूप
...

साँसों का सूत
बुनूँ प्रेम ओढ़नी
बन जुलाहा
...

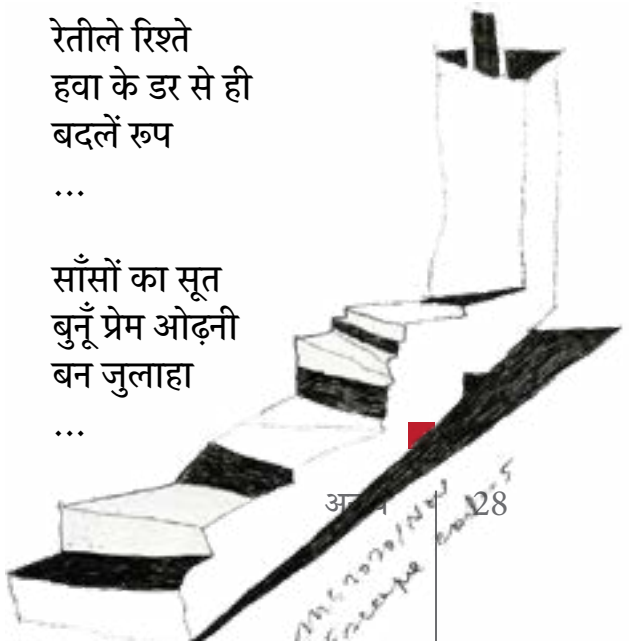

अशोक मिश्र

अयोध्या (उ.प्र.) में जन्में अशोक मिश्र चर्चित कथाकार और संपादक हैं, महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय विश्व विद्यालय वर्धा में संपादक पद से सेवानिवृत्त अशोक मिश्र की लघुकथा, कहानी आदि विधाओं की 4 पुस्तकें प्रकाशित हैं, अनेक संस्थाओं से सम्मानित/पुरस्कृत।

ईमेल - amishrafaiz@gmail.com

कबाड़ीवाला की मौत

-अशोक मिश्र

"कस्बे व आसपास के गाँवों की गली-गली घूमते हुए हाँका लगाना– रद्दी अखबार, बोतलें, प्लास्टिक के सामान बेंच डालिए...का हाँका बार-बार दोहराना उसका रोजमर्रा का काम था। कबाड़ की तलाश और उससे शाम तक परिवार पालने के लिए दो जून की रोटी जुटाना ही उसका पेशा और जीवन था। ...."

महानगर नौवें दशक के किसी एक दिन वह कबाड़ीवाला था। साइकिल में लटकती बोरी, काँटे वाली हाथ से पकड़ने वाली तराजू और किलो- दो किलो के बँटखरे देखकर ही पता चल जाता था कि वह कबाड़ी है। कमीज-पायजामा का बहुत सादा-सा पहनावा और पैरों में हवाई चप्पल तथा मुरझाये चेहरे पर गहरी सी उदासी, धीमी सी चाल उसके व्यक्तित्व पर कुछ ऐसी चिपकी होती थी कि लोग दूर से ही उसका आना भाँप लेते थे।

कस्बे व आसपास के गाँवों की गली-गली घूमते हुए हाँका लगाना– बाबूजी कबाड़ीवाला- रद्दी अखबार, बोतलें, प्लास्टिक के सामान बेंच डालिए... का हाँका बार-बार दोहराना उसका रोजमर्रा का काम था। कबाड़ की तलाश और उससे शाम तक परिवार पालने के लिए दो जून की रोटी जुटाना ही उसका पेशा और जीवन था।

यह कोई आज से बीस बरस पहले की बात है कि गोपालबाबू अपने ननिहाल कटरौली गये हुए थे। अचानक बड़ी ममेरी बहन मंजू दी ने कहा कि क्या तुम किसी रद्दीवाले को जानते हो ?

क्यों क्या काम है दीदी?

अरे क्या कहूँ ढेर सारी अखबारी रद्दी है जिसे चूहे कुतर-कुतर कर कमरे में कूड़ा फैला रहे हैं... रोज झाड़ू लगाने में परेशानी होती है सो उसे बेंच देना ही ठीक रहेगा।

अरे हाँ दी मेरा एक दोस्त है, जो कबाड़ी का काम करता है उसे बोल दूँगा वह एकाध दिन में आ ही जाएगा।

क्या नाम है उसका?

अरे दी नाम में क्या रखा है?

अरे उसकी जगह कोई चोर-उचक्का आ गया तो फिर क्या होगा?

अरे दी इस छोटे से गाँव में वैसे भी कौन आने वाला है।

अरे ऐसा भी नहीं है दूधिये से लेकर बिसाती तक जाने कैसे- कैसे शक्ल-सूरत वाले चक्कर लगाते हैं हो सकता है कि उसमें कोई चोर उचक्का हो तो... ?

अरे यहाँ चोर कहाँ हैं दीदी ?

इलाके में क्या चोर-उठाईगीरों की कमी है, फिर पक्कहा बाबा का परिवार तो वैसे भी बदनाम है कि हम लोग काफी धनी हैं लोग क्या जाने कि नौकरीपेशा घरों में पैसे कहाँ होते हैं।

गोपालबाबू ने दीपावली इस बार घर पर मनाने का फैसला किया था। कई साल हो गये थे बाबूजी के न रहने के बाद इस बार घर की दीपावली का फैसला बेटी और पत्नी को भी हुलसा गया था। बेटी जोर से चिल्लाई दीपावली दादी के साथ हिप...हिप... हुर्रे... अगले दिन से ही हम लोग इस बार दीपावली घर पर मनाने की तैयारी में लग गये थे। इसकी एक वजह यह भी थी कि हम परदेश में रहते हुए भी अजनबीपन, परायापन और एकांतिता भोग रहे थे, जहाँ न ही कोई परिचित चेहरा होता था, न ही कोई अपना रिश्तेदार जिसके लिए कभी-कभार मन काफी बेचैन भी हो जाया करता था। हमारी मानसिक तैयारी हो ही चुकी थी बस कार्यालय से अवकाश लेने भर की देर थी।

देखते ही देखते आखिरकार वह दिन भी आ गया, जब हमें सुबह पाँच बजे घर से निकल नागपुर के भीमराव अंबेडकर हवाई अड्डे से पहले दिल्ली के इंदिरा गांधी अंतरराज्यीय हवाई अड्डे पहुँचना था फिर वहाँ उतरकर लखनऊ की फ्लाइट पकड़नी थी।

गोपालबाबू जैसे ही फलाइट से उतरे ही थे कि एयर एंडिया का एक कमर्चारी चिल्ला रहा था... कि नागपुर से तीन यात्री जिन्हें लखनऊ जाना है मुझसे मिलें...

पुकार सुनकर गोपालबाबू को लपककर बताना पड़ा कि कि हम लोग ही लखनऊ वाले यात्री हैं।

एयर इंडिया का कमर्चारी बोला कि जल्दी करिए जहाज के लिए बोर्डिंग शुरू हो चुकी है।

हम और बिटिया एस्केलेटर पर लगभग दौड़ते हुए टर्मिनल पर पहुँचे। पत्नी की साँस फूल रही थी इसलिए फ्लाइट के उस कर्मचारी ने उनको व्हीलचेयर पर बैठा लिया था। दौड़ते हुए जब हम किसी तरह टर्मिनल तक पहुँचे तो पता चला कि लखनऊ की हमारी फ्लाइट लगभग दो घंटे की देरी से जाएगी तब जाकर हमने थोड़ा राहत की साँस ली। यह दीपावली से एकाध दिन पहले का समय था सो एयर इंडिया की साइड वाला टर्मिनल पूरी तरह से यात्रियों से खचाखच भरा हुआ था। भीड़ इस कदर थी कि कहीं भी बैठने के लिए एक भी कुर्सी खाली न थी? यात्रियों के चेहरे पर उदासी साफ झलक रही थी। किसी की फ्लाइट कैंसिल हो गयी थी, तो किसी की लेट थी। लोगों के चेहरे

तनाव, अपनों के पास जल्द पहुँचने की बेचैनी, आशंकाओं, चिंताओं से भरे थे। ये सभी जल्द से जल्द हवा में उड़कर अपनों के बीच पहुँचने को इस कदर बेकरार थे कि घड़ी के एक-एक सेकेंड का इंतजार उनको खासा अखर रहा था।

यह हवाई यात्रा भी क्या मजे की होती है कि आकाश में डैने फैलाए किसी पक्षी-सा विमान के उड़ते रहने का अहसास दे जाती है। भारत में दो भारत हैं। एक ओर ट्रेनों का गरीब गुरबा, मेहनतकश लोगों से भरा जनरल डिब्बा जिसमें लघुशंका के लिए जाना भी एक तरह का युद्ध लड़ना है या फिर रोडवेज की खटारा बसों की छतों पर बैठा भारत का किसान-मजदूर जिसके पास कोई विकल्प ही नहीं कि वह सार्वजनिक आवागमन के साधनों के अलावा किसका इस्तेमाल करे। जाहिर है कि उसके पास कोई दूसरा रास्ता नहीं। दूसरी ओर गिनती भर यात्रियों से भरी एयरलाइंस की उड़ान जिसका टिकट ही खरीद पाना आम आदमी के लिए संभव ही नहीं। गोपालबाबू सोच रहे थे कि हम तो सरकारी एलटीसी की बदौलत हवाई यात्रा का आनंद उठा रहे है लेकिन सबका मुकद्दर ऐसा कैसे हो सकता है ।

इतने में बेटी ने कहा कि पापा ये टर्मिनल क्या होता है?

बेटा! जैसे ट्रेन के लिए रेलवे का प्लेटफार्म होता है वैसे ही हवाई जहाज के लिए टर्मिनल होता है।

घर पहुँचने के बाद... एक दिन जब वह घर के मेडिकल स्टोर पर बैठा था जिसे पहले पिताजी चलाते थे अब भाई ने आयुर्वेदिक की जगह अंग्रेजी दवाओं के स्टोर में बदल दिया था।

वह अपने उसी घर पहुँच गया जहाँ जिंदगी के तीस साल गुजरे थे पाँच भाई-बहनों और अम्मा पिताजी के साथ। घर पर अब अस्सी साला माँ थीं और छोटे भाई की नई नवेली बहू जिसकी बोली-बानी ने घर को फिर से कुछ और रोशनी से जगमग कर दिया था। पिताजी दस साल पहले हुए ब्रेन हेमरेज के बाद नहीं रहे थे। पिताजी भले ही घर पर नहीं थे लेकिन ऐसा लगता था कि वे घर के किसी कोने से निकलकर आ खड़े होंगे शायद...।

"इलाके में क्या चोर-उठाईगीरों की कमी है, फिर पक्कहा बाबा का परिवार तो वैसे भी बदनाम है कि हम लोग काफी धनी हैं"

एक दिन सुबह वह टहलते हुए ननिहाल वाले रास्ते पर रेलवे लाइन से होते हुए शारदा नहर की ओर निकल गया था जो कि खिरौनी और आसपास के सौ से अधिक गाँवों, पुरवों की जीवनदायिनी, अन्नदायिनी, जलदायिनी जीवनरेखा भी और फसलों के लहलहाने की वजह भी थी।

नहर की पुलिया पर बैठकर कुछ देर तक मन वहाँ से बचपन की खोई स्मृतियों का कोई सिरा पकड़ने की कोशिश में लगा था जब माँ ननिहाल से पिताजी का टिफिन का ड्बिबा पकड़ा देती थी कि जाओ और बाबूजी को दे आओ। यह तब होता था जब माँ दो-चार दिनों के लिए अपने मायके या हम सब बचपन में

जिसे ननिहाल या नानाजी का घर मानते थे वहाँ चली जाती थीं। ऐसा गर्मियों की छुट्टियों या होली, रक्षाबंधन जैसे किसी तीज- त्यौहार पर ही होता। पिताजी माँ के न रहने पर खाना बनाने की जहमत से बचने के लिए या तो ननिहाल आते या फिर उनको टिफिन में रखकर खाना भेजा जाता। मामी अकसर उसमें चूल्हे से उठाकर एक टुकड़ा कोयला डाल देतीं ताकि खाने के डिब्बे पर रास्ते में किसी भूतही आत्मा या भूखे आदमी की नजर न लगने पाए। इसके बाद बाजार की तरफ जा रहे किसी आदमी के जरिए टिफिन का वह डिब्बा गाँव भर का दामाद कहलाने वाले पिताजी तक पहुँचवा दिया जाता था। पुलिया पर वह कुछ देर तक बैठे रहे पुरानी स्मृतियों के कुछ दौड़ते-भागते अक्स आते और चले जाते। वह सोचते रहे कि जन्म और मृत्यु के बीच जिंदगी आखिर कितनी तेजी से चलती है जैसे सब कल की ही बात हो।

वह स्मृतियों की आती-जाती चित्रमाला और नहर के कल-कल-कल बहते पानी की ध्वनियों के बीच खोया था कि इतने में पास आकर एक अधेड़ से व्यक्ति ने कहा, "अरे गोपाल भईया हमय चिन्हेव की नाही"

उसके बोलने से उनके विचारों की चलायमान स्मृतिका अचानक लुप्त हो गई। उसे देखते ही वह बोल पड़ा, "अरे रामनारायण का हाल है भाई कैसन हव" -यह कहते पुलिया से उतरकर उसे गले से लगा लिया।

"भईया बस गुजर बसर हो रही है... जिंदगी कटत हय और आप आपन बतावा जाय।"

"हम तो ठीक ही हैं तुम कह सकते हो कि सरकारी नौकरी में हूँ तो कई मुश्किलों से बचा हुआ हूँ।"

"तुम्हारे बच्चे कैसे हैं और क्या कर रहे हैं?"

"भइया तीन लड़के हैं एक बैंक में आफीसर हो गया बाकी दो गोवा में फुटपाथ पर दुकान लगावत हैं?"

"समझा जाए कि लड़कन की बदौलत हम अब मजे मा हन।

और तुम्हारा कबाड़ वाला काम क्या हुआ?"

"भइया ऊ तो पालीथीन आवै के बाद समझा जाय कि खतम होय गय रहा पर अब हम काम करय कय तरीका जमाने के लिहाज से बदल लिहेन है और बड़े पैमाने पै दुकानन से गत्ता, कबाड़ लोहा, लकड़ी कय पुरान चौखट, फर्नीचर, कुर्सी, अलमारी खरीद के फिर जरूरतमंदन का तनिक मुनाफा लय के बेंच देईत है यही आपन बिजनेस है अब और का कही जैसे-तैसे दो जून कय रोटी इज्जत से मिलत है।"

"भइया कल आप सुबह घर पर आवें तो अच्छा रहय कुछ देर बैठ के बातचीत किन जाए।"

उसके जाने के बाद काफी देर तक गोपालबाबू नौंवे दशक के छात्र जीवन और उससे जुड़ी स्मृतियों में खो गए।

जब अँधेरा गहराने लगा तो वे घर की ओर आ गए। वे सोच रहे थे कि किसी भी आदमी के दिन सदैव एक जैसे नहीं रहते उसमें बदलाव आता ही आता है। उनको याद आता है कि आखिर बाबूजी यों ही नहीं बोलते थे कि- दस साल में तो घूरे के दिन भी फिर जाते हैं। गोपालबाबू घर आकर माँ को बताने लगे कि वह रामनारायण मिला था।

माँ ने कहा कि, 'बेटा अब तो उसके दिन लौट आए उसका बहुत बड़ा कबाड़ का कारोबार है उसके बच्चे स्कार्पियो गाड़ी से चलते हैं। उसके बच्चे मुंबई में कबाड़ का बहुत बड़ा बिजनेस चलाते हैं और अब वे रद्दी अखबार नहीं बड़ी-बड़ी बंद मिलें, कारखानों का स्क्रैप, बंद पावर प्लाटों का कबाड़, आफिस का फर्नीचर, घरेलू आलमारियाँ, चौखटे, खिड़कियाँ जाने क्या क्या खरीदकर खूब पैसा बना रहे हैं। लोहा नीलामी में लेकर उसे सटील की फैक्ट्रियों में बेचते हैं जहाँ उसे बिजली की भट्टियों में गलाकर नया सटील बनता है।'

सटील सुनकर गोपालबाबू को हँसी आ गयी कि माँ जानबूझकर कई बार शब्दों को उच्चारण के दौरान कुछ इस देशी अंदाज में तोड देती हैं कि बुझे हुए चेहरों पर थोड़ा सा हास्य का भाव पैदा हो और सब लोग ठहाके लगाकर देर तक हँसे। वे सकूल, इसटेशन, कचेरी, टरेन, टंपू जैसे शब्द उच्चारतीं। बाबूजी तो माँ की इस बात से खासा खार खाते थे कि कोई काम धंधा तो है नहीं घर माँ ठलुआ की नाई बैइठ के चाहे जौन करो। माँ को गोपालबाबू ने कई उदास क्षणों में भी ठहाके लगाते देखा है। पड़ोसी कहते कि दीदिया आप तो गजबय करत हो। माँ तो सबसे अलग जाने किस माटी की बनी थी कि बहुत बड़े घर की बेटी होने के बाद भी कभी भी वहाँ का जिक्र न छेड़तीं क्योंकि उनको पता था कि बाबूजी के सामने ससुराल का नाम लेते ही उनके चेहरे पर चिढ़ दिखने लगती थी। बाबूजी और अम्मा में कहीं कोई मेल न था कहाँ वे एकदम तुनकमिजाज बच्चों जैसे... कहाँ माँ संपन्न घर से होने के बावजूद बेहद व्यवहारकुशल, नेकदिल और अपनी अभावों भरी टूटी फूटी गृहस्थी और बच्चों में सदा खुश रहने वाली।

माँ बताने लगी थी कि 'भैया (दरअसल गोपालबाबू घर के भीतरी लोगों द्वारा भैय्या ही कहे जाते थे) दरअसल इ जौन कबाड़ कय धंधा है न यहिमा एक बार ई जौन पावरहाउस बंद भवा है वहिकै कबाड खरीदै के खातिर टेंडर निकला और ई जौन तोहार दोस्त है ई अप्लाई कय दिहिस। फिर का भवा कि बाहर से केऊ आवा नाहीं फिर टेंडर एकरे नाम निकल आवा । अरे बेटा फिर तो जाने कउन चमत्कार हुवा कि ई फटीचरवा रातोंरात लखपती बनिगा।'

इतने में छोटकी बहन बोली, 'अरे भइया अम्मा का तो कुछ पता नाहीं है लोग कहते हैं कि पावर हाउस में अनुमान से सौ गुना ज्यादा कबाड़ निकला। भइया एक साल तक ट्रक में भर भरकर स्क्रैप कानपुर और गाजियाबाद जात रहा और आपका दोस्त नोट पर नोट छापता रहा और धीरे-धीरे बड़ा आदमी बन गया और अपने छोटे भाइयों, बहनों की शादी की और पक्का मकान बनाया लेकिन खुद वैसे ही दरजी की सिली मारवाड़ी कट बनियान पहनकर घूमता रहा।' -छोटी बहन रौ में बोले जा रही थी। छोटी तो छोटी थी एक बार बोलना शुरू किया तो फिर टीवी सीरियल की तरह किस्सा सुनाती रहेगी अगर बीच में कहीं माँ ने पुकारा लगा दिया- अरे छोटकी कछु ध्यान है की नाही रोटी सेंकय का है- फिर वह ठीक- ठीक है कहकर बैठक से उठकर चली जाती।

गोपालबाबू घर पर बैठे माँ के साथ बचपन की बातें, नाना- नानी, ननिहाल और बाबा से जुड़ी स्मृतियों को मन के भीतर स्थित

किसी स्टोर में रख ही रहे थे कि पता चला रामनारायणजी आए हैं। बहनों ने उनके नाम का संक्षिप्तीपरण कर रामनारायण से रानाजी कर दिया था। ऐसे कई काम बहनें शरारतवश करतीं लेकिन बाद में वह प्रचलन बन जाता।

बाहर पहुँचा तो वे बैठे थे बेंच पर आराम से। आते ही नमस्कार कर बोले, 'कल सुबह कय नाश्ता हमारे साथ कीन जाए' गोपालबाबू कैसे टालते हाँ कर दिया वे कुछ देर बैठे रहे फिर चाय पी, रामजुहार कर चल दिए।

अगले दिन सुबह नाश्ते पर जाना ही था कि छोटे भाई ने मजाक में कहा कि भैय्या रानाजी तो महाफड़तूस आदमी हैं चाय में मक्खी गिर जाए तो निकालकर पी जाते हैं। छोटे मुझे जानता था कि अगर मैंने हाँ कर दिया तो फिर मुझे रोक पाना माँ या बाबूजी या किसी अन्य के बूते से बाहर था। वजह थी कि हमारे सनातनी ब्राह्मण परिवार में मुझे सिरफिरा माना जाता था। गोपालबाबू किसी भी तरह की पूजा प्रणाली और मंदिर में माथा झुकाने के सख्त खिलाफ थे। दूसरी ओर परिवार के लोग देवी- देवता, पूजा, पाठ, परंपरा, कथा, व्रत, तीज त्यौहार में पूरा विश्वास रखते थे और उसके बिना एक भी कदम आगे न चलते थे। यही कारण था कई ऐसे लोग मेरे दोस्त थे जो कि निचले तबके के थे जिन्हें बाबूजी हों या माँ पसंद नहीं करते थे।

"नहर की पुलिया पर बैठकर कुछ देर तक मन वहाँ से बचपन की खोई स्मृतियों का कोई सिरा पकड़ने की कोशिश में लगा था जब माँ ननिहाल से पिताजी का टिफिन का ड्बिबा पकड़ा देती थी कि जाओ और बाबूजी को दे आओ।"

अगले दिन सुबह पहली चाय पर गोपालबाबू रेलवे स्टेशन के पास सोहावल गाँव की पगडंडी जो कि अब बाकायदा खंडजा रोड़ हो गयी थी उस पर जा पहुँचे थे। मुझे देखते ही रामनारायण लपककर आया और हाथ मिलाते हुए बोला, 'पंडीजी हमका पूरा यकीन रहा कि आप जरूर आइहैं...'

उसने पहले से ही घर की दालान में चार कुर्सियाँ और मेज डाल रखी थी। एक किनारे पर पर तख्त पड़ा था जिस पर एक गद्दा और उसके ऊपर चादर पड़ी हुई थी।

कुछ ही देर में एक छोटा सा बच्चा जो कि दस साल का रहा होगा वह एक ट्रे में पानी और बालूशाही मिठाई के चार टुकड़े रख गया था।

गोपालबाबू बोले कि अरे क्या बात है बालूशाही अब भी यहाँ के हलवाई बनाते हैं?

रामनारायण ने प्रतिप्रश्न किया- शहरन मा तो अब ई मिठाई न मिलत होए।

'हाँ अब तो मिठाई कहाँ खा पाने का मौका वैसे ही कहाँ मिलता है ऊपर से डायबिटीज का रोग?'

स्मृतियाँ अचानक से फिर बचपन में जाकर फ्लैश बैक की तरह गोपालबाबू के मस्तिष्क में कौंधने लगी थीं जब मीठा जिंदगी का अहम हिस्सा था। बाबूजी भोजन के पश्चात रबड़ी या रसगुल्ला जरूर खाते जायका ऐसा कि हम सब बच्चे उसी में गुम होकर रह जाते। माँ के

हाथ में हांडी देखते ही अंदाजा लगाते कि उसमें जो सफेद या गुलाबी क्या निकलेगा एकाध बार तो हम भाई-बहन शर्त लगा लेते कि आज तो राबड़ी देवी ही होंगी बाले हलवाई की दुकान से लाई गई। गोपालबाबू सोचते हैं कि बचपन भी क्या होता है कि जो बड़े हो जाने पर कहीं पीछे छूटकर गुम हो जाता है भीड़ में खोये आदमी की तरह। आदमी भी जिंदगी को जितना समझता है, उतनी ही वह हाथ से रेत की तरह फिसलती जाती है या रेल की खिड़की से भागते दृश्यों की भांति कहीं अदृश्य होकर रह जाती है।

रामनारायण बोला कि अरे हम तो यही लिए मँगाए कि आपका अच्छा लागय। आप जब साथ माँ डिग्री कालेज जात रहे तो हम सब मिलके कालिका भंडार कय बालूशाही जरूर खात रहे।

और हालचाल सुनाओ रामनारायण-कैसे चल रही है जिंदगी अब तो सब आनंद मंगल है की नहीं?

रामनारायण का ठंडी साँस लेना और कहना कि हाँ भइया कि आप तो जाना जात है कि हम अपनी पूरी जिंदगी भाई बहिनन कय पालन पोषण, बीमारी-अजारी, शिच्छा देय मा गुजार दिए मगर जौन सोचे ऊ भवा नहीं।

अरे साहब जैसे ही हमार सब भाई पढ़ि-लिखि गए और हम फिर सब कय शादी कर दिहेन वे लोग जब अच्छा कमाय खाय लगे तो जिंदगी कय अलग रास्ता पकड़ अलग्योझा कय लिहिन। रामनारायण के भीतर का दर्द उसके चेहरे पर उतर आया था।

हम सोचे कि पूरा परिवार मिलकर कमाए तो दिन दूना तरक्की होए लेकिन हियां तो सब ऐसन मतलबपरस्त निकले कि पूछा न जाय घर कय बात है का कही, का ना कही। अरे साहब परिवार चलाना कौनो हँसी खेल का काम नहीं है। यहिके लिए पच्चीस तरह की धंधागिरी करय का पड़त है।

मुझे अच्छी तरह से याद है कि रामनारायण को फिल्में देखने का बड़ा शौक था। कई फिल्में उसके साथ देखीं अगर पैसा नहीं होता था तो भी वह उसका इंतजाम कर लेता। मुझे याद आया कि कई बार धर्मयुग, रविवार सहित कई पत्रिकाएं और साहित्यिक किताबें उसके घर में चहुँ ओर बिखरे कबाड़ से उठा लाया था। उसने कभी किसी पत्रिका या किताब के लिए मना नहीं किया जबकि यह उसका सीधा नुकसान होता था। मुझे छोड़कर वह दूसरों से किसी अच्छी किताब या पत्रिका के पैसे ले लेता था। वह कहता भी कि भैय्या सारे लोग दोस्त कहाँ हो सकते हैं। आप तो हमार पुरान दोस्त हैं हर मुश्किल में आपका ही सहारा या कि फिर आसरा रहता है।

'रामनारायण उर्फ कबाड़ीवाला की डायरी'

चलते समय रामनारायण अपनी डायरी मुझे दे गया था कि साहब हमार डायरी छप जात तो अच्छा रहत।

क्या तुम लिखते भी हो?

हाँ साहब एक बार चस्का लगा रहा एक शायर साहब मिल गये रहे वे बड़े ज्ञानी आदमी थे उन्हीं से कछु- कछु सीख लिए रहन।

साहब रद्दी के धंधे में हम पैसा बहुत कमाए लेकिन इज्जत गँवाए। हमार नाम सब भूल गये बस कबाडी बुलावत हैं जौन अच्छा नाहीं लागत

दिल का बड़ी तकलीफ होत है।

कबाड़ीवाला उर्फ रामनारायण- मेरे सीने में बहुत से राज दफन हैं क्या करूँ किससे कहूँ काम रद्दीवाले का क्या किस्मत लिखी भगवान ने। बचपन में बाबू नहीं रहे। वे एक देशी दारू के ठेके में कारकून का काम करते थे। शराब बेचते-बेचते वे कब शराबी बन गए किसी को पता न चला। माँ बतातीं हैं कि शुरू में वे बड़े फक्कड़ मस्त तबियत के इनसान थे हम चार भाई बहनों को बेइंतहा प्यार करते थे। हम लोग वैसे भी कलवार जाति से थे, जिनके घरों के बहुत से लोग शराब के काम में लगे रहते हैं। चौदह साल की उम्र में रामनारायण पिताविहीन हो गये थे। पिता के मरते ही रामसमुझ नाम के हमारे बाबा ने अगले ही दिन बँटवारा कर दिया था। माँ ने किराने और कागज के लिफाफे बनाने का काम शुरू कर दिया था।

डायरी में कई स्थानों पर कार्टून या चुटुकुले और कहीं-कहीं शायरी की पंक्तियाँ भी दर्ज थीं। (डायरी का एक पन्ना)

गोपाल बाबू जानते थे कि रामनारायण लेखक होता तो अपनी कहानी लिखता लेकिन अपनी दाल रोटी में उलझा कमेरा था जो सब कुछ छोड़कर रद्दी तौलने और सुबह से शाम तक उसे कहाँ किसके घर रद्दी मिलेगी इसका पूरा ध्यान रखना पड़ता था। वह अच्छे से जानता था कि अगर दोपहर या शाम तक उसके साइकिल के करियर में टँगे हुक से लटके बोरे न भरे तो समझो कि आज का दिन उसके परिवार को भूखा ही सुलाएगा, यह सोचते ही उसकी रूह काँप जाती और वह दुगुनी शक्ति लगाकर चिल्लाता– कबाड़ीवाला –अखबार, कबाड़, प्लास्टिक का सामान, खाली शीशी, बोतल बेचिए...।

एक ओर आवाज देता तो दूसरी ओर मन ही मन भगवान का नाम भजता कि दिन खाली न जाए कछु धंधा पानी भर का काम निकल जाए। वह दरवाजे दर दरवाजे और मोहल्ले दर मोहल्ले चक्कर लगाता जाता। एक गली से निकलकर दूसरी गली घूमता ही रहता था।

वह गाता था कि– 'वक्त कभी फूलों की सेज वक्त कभी काँटों का ताज कौन जाने किस घड़ी वक्त का बदले मिजाज।'

रामनारायण उर्फ कबाड़ी अच्छा तरह जानता था कि किन घरों से रद्दी मिल सकती है क्योंकि जो घर संपन्न और पढ़े लिखे लोगों के थे वही अखबार खरीदते थे और रद्दी भी उन्हीं के घरों से निकला करती। अब किसी गरीब के घर रद्दी कहाँ से आती जिसे दो जून की रोटी के भी लाले हों।

महीने के अंत में जब लोगों के हाथ पैसे से खाली होते थे, उसी समय रद्दी निकला करती थी या फिर गर्मियों में जब बच्चों के सत्र समाप्त होते तब रद्दी निकलती थी।

सबसे ज्यादा रद्दी दीपावली पर मिलती जब घरों की साफ-सफाई होती थी। दीपावली के दौरान तो वह हाथरिक्शा चलाकर एक एक दिन कई बोरा रद्दी लाता। यही एक ऐसा समय होता था जब उसके पौ बारह रहते थे।

एक बार जब वे ढेर सारी रद्दी लेकर कबाड़ीवाला जब घर पहुँचे तो उसको एक ठाकुर साहब के घर से लाई रद्दी में दस हजार रुपये के इंदिरा विकास पत्र मिले थे। उसने अगले ही दिन उनको पत्र लौटा दिए थे। वे इतना खुश हुए कि

सस्ती के जमाने में सौ रुपये दे दिए थे बच्चों की मिठाई के वास्ते।

उसे याद है कि रद्दी में मिली पत्रिकाओं डायरियों में एक नहीं कई बार नोट, प्रेमपत्र, कंडोम के पैकेट, मुकदमे के कागज, बटुए, फोटो वाले फ्रेम, नक्काशीदार कढ़ाई वाले फोटो, बिजली के बिल, जाने क्या-क्या मिलते। उसका मन करता कि सब कुछ रख ले लेकिन ऐसा खासा टेढ़ा काम था। उसने कई बार समझ में आने पर महत्वपूर्ण चीजें संबंधितों को लौटा दी थीं। वह सोचता था कि कैसे जिंदगी में काम आने वाले सामान कबाड़ में बदल जाते हैं। जिंदगी की तरह उनकी भी मौत हो जाती है फिर उसे रिसाइकिल करने भेजना पड़ता है। उसके घर तीन चार घंटे बीताकर गोपालबाबू घर आ गए थे।

शहर लौटने के कुछेक महीनों के बाद गोपालबाबू को एक दिन उनके मित्र शिवबहादुर ने मोबाइल फोन पर जानकारी दी कि आपके बचपन के पुराने दोस्त रामनारायण कबाड़ीवाला नहीं रहे। वजह पूछने पर उसने कहा कि दरअसल वे अपनी पोती की शादी कानपुर शहर के एक खाते-पीते परिवार में तय करके आए थे। शादी की सारी तैयारियाँ पूरी हो चुकी थीं। शिवबहादुर बोलता जा रहा कि अचानक रामनारायणजी को कानपुर बुलाया गया और फिर लड़की की होने वाली सास ने उनको सुनाना शुरु किया कि हमने अपने बेटे की शादी यह सोचकर तय की थी कि लड़की पढ़ी-लिखी और सुंदर है। हमें तो ये बात पता ही न थी लड़की के परिवारवाले यानी कि आप लोग कबाड़ का काम करते हैं। मेरे पति ने मुझे अँधेरे में रखा। लड़के की माँ ने रामनारायणजी से कहा कि हम किसी कबाड़ीवाला की बेटी को घर की बहू नहीं बना सकते। हमें कबाड़ की दुकान नहीं खोलनी है, आखिर हमने समाज में जो थोड़ी बहुत इज्जत कमाई है उसका हम सत्यानाश नहीं करना चाहते। लड़के की सास ने रामनारायणजी से कहा कि हमारे पति सीधे सादे आदमी हैं आपने उनको बरगला लिया लेकिन हम लोग कोई भिखमंगे नहीं हैं कि किसी का भी रिश्ता तय कर लें। इससे पहले कि रामनारायणजी कुछ बोलते कि लड़के के परिवार की औरतों ने हाथ जोड़कर रिश्ते करने से मना कर दिया। घर के मर्द घर रामनारायणजी के सामने ना ही उनका फोन उठाया। रामनारायण निराश होकर खामोशी से घर लौट आए। दरअसल रामरानारायणजी के मन मस्तिष्क पर पोती का रिश्ता टूट जाने का सदमा भीतर जाकर गहरे से बैठ गया। ये घटना उनके मन में नासूर बनकर ऐसी बैठी कि ब्रेन हैमरेज से अंतत: एक हफ्ते बाद ही उनकी मौत हो गयी। दोस्त बोलता जा रहा था कि यह समाज आखिर कब अपनी सोच कब बदलेगा? यह तो आगे जाने के बजाय सदियों पीछे जा रहा है। दोस्त की बात का गोपालबाबू के पास कोई जवाब न था....। गोपालबाबू सोच रहे थे कि कबाड़ी का धंधा रामनारायण के परिवार का सच था लेकिन क्या कबाड़ी होना उनकी जिंदगी का कोई गुनाह था ?

डॉ. भावना

मुज़फ़्फ़रपुर, बिहार में जन्मी डॉ. भावना आर.एस.एस. कॉलेज, चोचहाँ, मुज़फ़्फ़रपुर में 'रसायन शास्त्र' की व्याख्याता हैं, ग़ज़ल, कविता और आलोचना की कुल मिलाकर सात पुस्तकें अब तक प्रकाशित, अनेक संस्थाओं से पुरस्कृत/ सम्मानित.

ईमेल - bhavna.201120@gmail.com

पाँच ग़ज़लें

-डॉ. भावना

1.

चेहरों वाले आँगन में जब बेचेहरा तस्वीर मिली
फुर्सत के पल मुस्काती मुझसे मेरी तकदीर मिली

चौंक गई इक रोज हवा, सूरज भी कुछ गमगीन हुआ
चंचलता की बस्ती में जब इक लड़की गंभीर मिली

एक कटोरा भर कर अपनी छत पर हम भी रख आये
चिड़िया पानी पीने को गर्मी में खूब अधीर मिली

देख सकूँ जी भर कर उसको खूब मचलती लहरों पर
पानी पर उठती गिरती ऐसी ही इक तहरीर मिली

तन को बाँध सके ऐसी तो कई बेड़ियाँ होती हैं
मन को बाँध सके बस ऐसी एक नहीं जंजीर मिली

2.

मुसीबत में भी तनती जा रही हूँ
मैं अपनी माँ-सी बनती जा रही हूँ

समझ लो बस कि मैं बहती नदी हूँ
मैं अपने आप छनती जा रही हूँ

बना कर माँ गई जीवन की मूरत
उसी मिट्टी में सनती जा रही हूँ

ये दर्पण साथ मेरा दे, नहीं दे
मैं बनती और ठनती जा रही हूँ

उधर बस रूठने का सिलसिला है
इधर मैं सिर्फ़ मनती जा रही हूँ

गई हो सौंप कर तुम वस्त्र सुख के
मगर मैं दुःख पहनती जा रही हूँ

तुम्हें तो बेटियाँ भाती रहीं माँ
ग़ज़ल मैं रोज जनती जा रही हूँ

3.

कुछ दिन का एकान्त हुआ है सहना मुश्किल
माँ की पीर घनी थी कितनी कहना मुश्किल

जैसे जल बिन मीन, दिया है बिन बाती का
वैसे पल भर दूर हुआ है रहना मुश्किल

जल, जीवन, हरियाली नारे खूब हैं लेकिन
दलदल में तब्दील नदी का बहना मुश्किल

एक हिजाब ही शांत हवा को उग्र बना दे
ऐसे रूढ़ विचारों का क्यों ढहना मुश्किल

सोने के लालच में वो न फँसे भी कैसे
बनना है पीतल से असली गहना मुश्किल

इक बक्से में खूब जमा कर रख भी दूँ पर
दुख की लम्बी-चौड़ी चादर तहना मुश्किल

4.

शोर करती हुई आँधियाँ चल रहीं
जैसे कुदरत की हैं धमकियाँ चल रहीं

इन दिनों ही जरूरी बहुत काम है
इन दिनों आपकी छुट्टियाँ चल रहीं

ये ग़ज़ल की कशिश थी या दीवानगी
उसके सुनते हर इक उँगलियाँ चल रहीं

उनकी बातों का जादू हुआ इस कदर
लाश हिलने लगी हड्डियाँ चल रहीं

एकता का प्रदर्शन बड़ा झूठ है
अपने घर में ही जब दूरियाँ चल रहीं

5.

क्या तमाशा भी वो दिखाते हैं
सुब्ह को शाम जब बताते हैं

पहले तय करते हैं कमीशन वो
बाद में घर वही दिलाते हैं

सिर झुकाने की मेरी आदत को
मेरी कमजोरियाँ बताते हैं

थपकियाँ देते हैं मुहब्बत की
नींद मेरी भी वो चुराते हैं

जुगनुओं से भी करके गुस्ताखी
वो दिया इस तरह जलाते हैं

उनकी आहट-सी आ ही जाती है
राह में जब नज़र जमाते हैं

वो तो दुश्मन है कर न दे साजिश
आप किसको गले लगाते हैं

फेर लेते हैं क्यों नज़र अपनी
आपके जब करीब आते हैं

रू-ब-रू जब हुए हैं मुश्किल से
नाम मेरा जुबाँ पे लाते हैं

सर जो अपना उठा नहीं पाये
हर घड़ी सर वही झुकाते हैं

मनोज मोहन

मुज़फ़्फ़रपुर (बिहार) में जन्में मनोज मोहन वर्तमान में दिल्ली में निवास कर रहें है, हिन्दी के साहित्यिक-सांस्कृतिक दुनिया में निरंतर सक्रिय हैं, एक गैर सरकारी संगठन में थोड़े दिनों तक नौकरी, वर्तमान में सीएसडीएस की पत्रिका 'प्रतिमानःसमय समाज संस्कृति' के संपादकीय विभाग से संबद्ध.

ईमेल - manojmohan2828@gmail.com

एकांत घर का रहवासी

-मनोज मोहन

"बचपन में जिस चित्रकार से मेरा पहला परिचय हुआ था, वह रामकुमार ही थे. साप्ताहिक हिन्दुस्तान में पहली बार उनके बनारस श्रृंखला के बनाये चित्र और उनका परिचय देखा-पढ़ा था. मैंने उन सारे चित्रों को पत्रिका से काटकर अपनी कापी में सुरक्षित कर लिया था..."

अधिकांश कलाकारों के मुकाबले रामकुमार ज़रा ज़्यादा ही सख्त मिट्टी के बने हैं. वे अपने को किसी तरह की छूट देने के आदी नहीं. अहं को सहलाना भी उनका सेवा नहीं. भावुकता की चिपचिपाहट भी उनके यहाँ नहीं है. उनकी रचनाओं को वजन देने के लिए कोई सिद्धांत भी उन्होंने नहीं गढ़े. किसी तरह की राहत भी उन्हें मंजूर नहीं. यहाँ तक कि उन्होंने रंगों का सुख भी त्याग दिया है. इस आत्मनिग्रह ने उनके रचना-संसार को एक तीखी सादगी और सुघड़ता दी है, जो उन्हें अपने समकालीनों से एकदम अलग करके उन्हें दिखाती है.

शामलाल, रामकुमार 1968

ऐसे चित्रकार रामकुमार से मिलने मैं पहली बार 20 नवंबर 2009 को भारती कॉलोनी वाले मकान में गया था. भारती कॉलोनी कलाकारों के लिए ही बसाया गया था.

बचपन में जिस चित्रकार से मेरा पहला परिचय हुआ था, वह रामकुमार ही थे. साप्ताहिक हिन्दुस्तान में पहली बार उनके बनारस श्रृंखला के बनाये चित्र और उनका परिचय देखा-पढ़ा था. मैंने उन सारे चित्रों को पत्रिका से काटकर अपनी कापी में सुरक्षित कर लिया था. उन दिनों हमारे घर में धर्मयुग, सारिका, दिनमान और इलेस्ट्रेटेड वीकली ऑफ़ इंडिया आदि पत्रिकाएँ आती थीं . मैं रामकुमार जी का लिखा उपन्यास 'घर बने घर टूटे' भी पढ़ चुका था. वह विभाजन को लेकर था. उस उम्र में भी वह उपन्यास मन पर एक गहरी उदासी छोड़ गया था. कुछ उनकी लिखी हुई कहानियाँ भी उन दिनों पढ़ रखी थीं. बाद में निर्मल जी को जाना, वे उनके छोटे भाई थे...वे दिन थे साहित्य और संस्कृति से परिचय की शुरुआत होने के 2008 में नटरंग प्रतिष्ठान

के साथ जुड़ गया. एक दिन रश्मि जी ने कहा कि नटरंग पत्रिका के लिए रामकुमार जी से नाटक पर बातचीत करनी है. मैं उनसे मिलूँगा यह सोचकर अभिभूत था.

मैं साहस करके अपनी 'घर' श्रृंखला की दो कविताएँ उन्हें पढ़ाने के लिए ले गया. आज़खदी की लड़ाई को जिन्होंने देखा है और बहुत गहरे महसूस किया है, उनमें अज्ञेय,रामकुमार और मोहन राकेश के लेखन में घर के वर्णन को गहरी अंतरंगता के साथ महसूस किया गया है. चूँकि मैं इन तीनों लेखकों का काफ़ी कुछ पढ़ चुका था, इस कारण घर के बारे में सोचना मुझे भी आकर्षित करता रहा है. मैं जैस ही उनसे मिला, हड़बड़ाहट में अपनी कविताएँ यह कहते हुए उनके हाथों में थमा दीं कि देखिए सर घर आपकी भी चिंता के घेरे में रहा है और मेरी भी, आप इसे पढ़ेंगे तो मुझे अच्छा लगेगा. उन्होंने दोनों ही कविताओं को बहुत ध्यान से पढा. फिर चुपचाप उठे और भीतर वाले कमरे से एक किताब लेते आए. वह उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'यूरोप के स्कैच' थी. उन्होंने उस किताब पर एक पंक्ति ' प्रिय मनोज मोहन के साथ पहली भेंट के अवसर पर'–लिख, हस्ताक्षर कर मुझे उपहार दिया. और उनकी वह किताब आज भी मेरे संग्रह की सबसे अनमोल पुस्तक है. उनसे बातचीत के कुछ अंश अब भी जेहन में हैं.

"1964 की बात है जब मैं मुंबई में कुछ महीने रुका था. वहीं पर, जहाँ सारे-के-सारे आर्टिस्ट वगैरह रहा करते थे. कम से कम उत्तर भारत में, या दिल्ली शिमला वगैरह जगह में अंग्रेज़ी में ही नाटक हुआ करते थे. हम लोग उस समय हिंदी की कल्पना भी नहीं कर सकते थे...."

उन्होंने नाटक देखने की शुरुआत कैसे की थी, दिल्ली में उस वक़्त कैसा माहौल था. पढ़ने की धुन उनमें किस तरह की थी...सभी प्रश्नों को उन्होंने ध्यान सुना और कहा कि और अपने स्टूडियो ले गए और बोले आप टेप रिकार्डर मुझे दे दें मैं एक साथ सभी प्रश्नों पर बोल देता

हूँ. उसी बातचीत के कुछ अंश यहाँ दे रहा हूँ :
मुझे याद है कि मेरे पिताजी दो टिकट ख़रीदते थे ,एक माँ के लिए और एक अपने लिए और हम दो बच्चे उनके साथ जा सकते थे. उनकी सीटों की कुर्सी बड़ी होती थी तो यह संभव था. हम लोगों में काफ़ी होड़ मचा करती थी कि छह भाई-बहनों में से कौन दो जाएँगे. जो जरा तेज़ होते थे वही जा पाते थे.

1964 की बात है जब मैं मुंबई में कुछ महीने रुका था. वहीं पर, जहाँ सारे-के-सारे आर्टिस्ट वगैरह रहा करते थे. कम से कम उत्तर भारत में, या दिल्ली शिमला वगैरह जगह में अंग्रेज़ी में ही नाटक हुआ करते थे. हम लोग उस समय हिंदी की कल्पना भी नहीं कर सकते थे.
1958 की बात है जबकि पेरिस में मैं छह महीने के लिए गया था ...किसी ने मुझे सुझाव दिया कि ये लोग, फ्रांस के लोग,आर्ट क्रिटीक को बहुत महत्त्व देते हैं. तुम हिंदी में लिखते ही हो, अगर तुम किसी तरह हिंदी के पेपरों में लिख सको थियेटर के बारे में तो तुमको पास शायद मिल सकता है. सुझाव तो मुझे मिला,मैं चला भी गया दफ़्तर में, और उन्होंने कुछ पास भी मुझे दे दिया. मुझे काफ़ी नाटक मस्कवा थियेटर के सब , 'चेरी ऑचर्ड' और चेखव का 'थ्री सिस्टर्स' वगैरह देखने को मिला और वह मेरे लिए बहुत ही बड़ा अनुभव था.

और अंत में स्मृति में टिका रह गया 'घर बने घर टूटे' का एक संक्षिप्त अंश – वही भावना अपनी पूरी प्रबलता के साथ उसके मन में आ समायी थी , जिसे दबाने की उसने कोई कोशिश नहीं की और शायद कर भी नहीं सकता था .प्रतिक्षण उसकी लहरें उसे और भी तेज होती जान पड़ीं . पिछले कितने ही महीनों का उसका अकेलापन अब पूर्णरूप से उभर आया था और

वह सोच रहा था कि उस जमा हुए ढेर से गंदे पानी को निकाल फेंकने का वह अवसर उसके हाथ में आया था जिसे वह खो देना नहीं चाहता था.

उनके स्टुडियो में मुझे दो-ती बार जाने का मौक़ा मिला. वे लगातार पेंटिंग करते रहने में विश्वास नहीं करते थे. अपने शुरुआती दिनों में शैलोज मुखर्जी के शिष्य रहे. पेरिस में फेरनार लेझे के मार्गदर्शन में वे पेंटिंग्स के गुर सीखते रहे. लेकिन उन दोनों के प्रभाव से मुक्त रहे. एक तो यह भी था कि वे तैल रंग का प्रयोग करते थे, जो सूखने में समय लेता था. उनके स्वभाव के अनुरूप ही हम जिस कृति से, जिस भी चित्र से हम मिलते हैं, वह एक गहरे आत्मीय बोध से भर देता है. जहाँ दूसरे कलाकार अपने चित्रों में अपनी उपस्थिति का अहसास कराते हैं, वहीं रामकुमार अपनी कृतियों में अपने स्वत्व को तिरोहित कर डालते हैं. उनके जाने के बाद जो भी रचा गया चित्र या साहित्य हमारे सामने है, हम उससे उन्हें विलग रख कर देख नहीं पाते. स्मृति में सदा वे बचे रहेंगे अपने अमूर्त चित्रों की तरह.

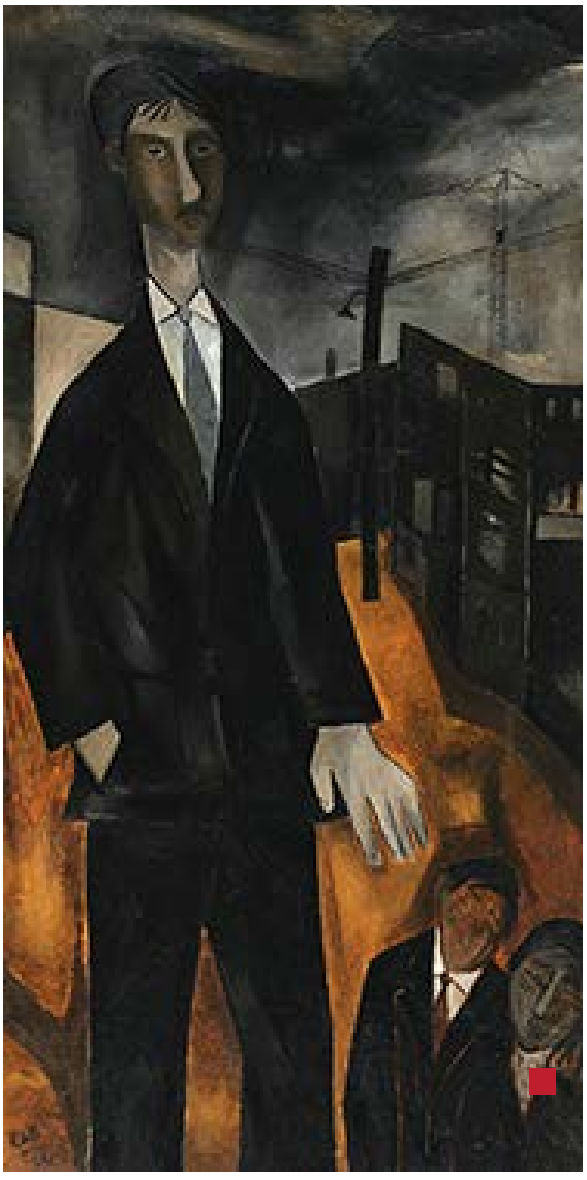

चित्र और चित्रकार

चित्रकार : मुकेश साह, नई दिल्ली
माउंटेन श्रंखला
36x36 इंच, ऐक्रेलिक ऑन कैनवस